6

खिलजी साम्राज्यवाद

जलालुद्दीन फिरोज खिलजी
(1290-96)

खिलजी विद्रोह

तुर्कों की 64 नस्लों में से खिलजी भी एक थे। वे ईसा की चौथी सदी में वर्तमान अफगानिस्तान में आये थे जहाँ उन्होंने धीरे-धीरे अफगानी सामाजिक-सांस्कृतिक गुणों को ग्रहण कर लिया जिससे वे भ्रमवश अफगान मान लिये गये[1]। वे बहुत बड़ी संख्या में महमूद तथा मुहम्मद गोरी की सेना में सम्मिलित हो गये और स्वामिभक्ति तथा अच्छी सेवा के बल पर अपने मालिकों की वाहवाही प्राप्त की। जब तराइन के प्रथम युद्ध (1191 ई0) में मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज चौहान के हाथों परास्त होकर बुरी तरह घायल हो गया तो एक खिलजी सैनिक ने उसकी जान बचाई और उसे सुरक्षित स्थान पर ले गया। मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी मुहम्मद गोरी का सेनापति बन गया और बिहार तथा बंगाल की जीत में सुल्तान ने उसे पूरी छूट दे दी। पुरस्कार स्वरूप उसे विजित प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया गया जो दिल्ली के वायसराय कुतबुद्दीन ऐबक के निरीक्षण में था। एक के बाद एक होने वाले दिल्ली के सुल्तानों के स्वतन्त्र शासन में बिहार तथा बंगाल का गवर्नर एक तरह से खिलजी सामन्तों (अमीरों) का अधिकारी बन गया। इनमें से कुछ ने तो लखनौती में स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करने तथा दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता को चुनौती देने का भी दुस्साहस किया। उन्होंने अपनी जाति के लोगों को असैनिक और सैनिक पद प्राप्त करने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किये। संयोगवश मंगोलों ने हेलमंद तथा काबुल की घाटियों में तेरहवीं सदी के प्रारम्भ में घनघोर युद्ध किया जिससे खिलजी लोग सामूहिक रूप से भारत चले आये और इस तरह गंगा घाटी में खेतिहरों तथा सैनिकों के रूप में बस्ती बनाने वाले मुस्लिम आप्रवासियों की बाढ़ आ गई। मुसलमान बाशिन्दों (अधिवासियों) में इनकी संख्या अधिक थी, इनके कुछेक नेता

प्रशासनिक तथा सैन्य पदों पर दिल्ली के सुल्तानों के अधीन थे। ये तुर्किस्तान या अफगानिस्तान में राजनीतिक अधिकार के दावेदार न थे, न ही दिल्ली के शासकों में इनकी गिनती थी। दिल्ली सल्तनत के संस्थापकों ने मुलसमानों के बीच अपने स्वार्थ के लिए जातिवाद का प्रचलन किया। उच्च पदों पर जाति का भेदभाव बरता जाता। ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन-इन तीनों प्रमुख शासकों ने सामन्तों की नई श्रेणियाँ कायम कीं जो अपने ही तुर्की दास अफसरों के लिए थीं। ऐसी नीति भारत में नवीन इस्लामी राज्य के हित में न थी क्योंकि इससे सामन्तों में परस्पर छीना-झपटी चलती रहती। राजधानी दरबारी झगड़ों तथा राजनीतिक हत्याओं से परेशान थी जिससे कभी-कभी खुले विद्रोह एवं रक्तपात होते रहते जो सुल्तानों को भी नहीं बख्शते थे। जाति पर आधारित सत्ता की राजनीति का कुचक्र उस मुस्लिम सामन्तवाद के लिए घातक सिद्ध हुआ जो सल्तनत की रीढ़ था। इससे अनेक सशक्त सेनापति, प्रशासक तथा विद्वान मर मिटे और उनकी सेवाओं से राज्य को वंचित होना पड़ा। बलबन ने उच्चतर सेवाओं में नियुक्ति के लिए जातिवाद तथा वंशावली को अनिवार्य अर्हता बना दिया। इससे उस मुस्लिम समुदाय में रोष व्याप्त होने लगा जिनकी संख्या हिन्दू धर्म छोड़ने वालों तथा विदेशी आप्रवासियों के कारण बढ़ती जा रही थी। इससे उन होनहार युवाओं को धक्का लगा जो अपनी योग्यता के बल पर अपना जीवन सुधारना चाहते थे। इस तरह वे सुविधाभोगी राजन्यवर्ग से कट गये। जलालुद्दीन खिलजी, जो कैकुबाद के अधीन समाना का गवर्नर था, उस मुसलमान समुदाय में से था जो सुविधाभोगी नहीं था किन्तु जिसने राजदरबार में प्रमुख पद प्राप्त कर लिया था। इसलिए जब उसने बलवन के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध सैन्य अभियान चलाया तो उसे मुस्लिम समुदाय का समर्थन मिला यद्यपि दिल्ली के अमीरों का समर्थन मिलने में कुछ समय लगा जो अपनी भूमि से अलग हो जाने के कारण दुखी थे और सिंहासन पर दावा करते थे[2]। इस तरह से जलालुद्दीन खिलजी का गद्दी पर बैठना केवल राजवंश में परिवर्तन ही नहीं था, बल्कि मुस्लिम राजनीति में सार्थक क्रान्ति था। इससे शासक वर्गों में जातिगत भेदभाव के युग का तथा सुविधाभोगी तुर्क अमीरों का अन्त हुआ जो मुस्लिम राजनीति में लगभग एक सदी से छाये थे। इस दृष्टि से देखा जाये तो यह कहना गलत होगा कि खिलजी वंश की स्थापना से पूर्व दिल्ली में तुर्की शासन की अपेक्षा मुस्लिम शासन का युग आरम्भ हुआ।

जलालुद्दीन खिलजी का आरंभिक जीवन

जलालुद्दीन खिलजी का वंश कुलीन नहीं था। उसने इल्तुतमिश या बलवन के सैनिक के रूप में अपना जीवन शुरू किया। बलवन के समय वह उत्तर-पश्चिमी

क्षेत्र में अधीनस्थ श्रेणी के सेनापति के रूप में नियुक्त था। बलवन की मृत्यु के समय वह समाना का इक्तादार था। उस समय वह सड़सठ वर्ष का बूढ़ा था और उसने अपना पूरा जीवन सल्तनत की सेवा में लगा दिया था। उसने मंगोलों के विरुद्ध अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं और एक कुशल सैनिक तथा योग्य प्रशासक के रूप में ख्याति पाई थी। उसका स्वभाव राजनीतिज्ञों जैसा न था। वह तुर्क अमीरों द्वारा बनाये गये किसी भी दरबार या फौज से कभी भी सम्बन्धित नहीं रहा। जलालुद्दीन ने कैकुबाद (1287-90) के अल्पकालीन शासन में ही अपनी स्थिति मजबूत कर ली क्योंकि उसकी नियुक्ति युवा सुल्तान ने *सर-ए-जानदार* (राजसी अंगरक्षकों का प्रधान) के रूप में की थी। मलिक निजामुद्दीन की मृत्यु के बाद वह बरन का गवर्नर और *अर्ज-ए-मुमालिक* (सेना का प्रधान) बना तथा उसने शाइस्ता खान की उपाधि धारण की। उसके बाद उसने तेजी से शक्ति प्राप्त की। शीघ्र ही वह अपने उन मातहत सैनिकों, तजिकों, महत्वाकांक्षी खिलजियों तथा भारतीय मुसलमानों के बीच महत्वपूर्ण बन गया जो बलबन के समय जातिगत भेदभावों के चलते शासकीय भागीदारी से वंचित कर दिये गये थे। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के इतिहास में पहली बार सुविधाभोगी तुर्कों और अन्य मुस्लिम अधिकारियों के बीच शक्ति-सन्तुलन स्थापित हुआ। तुर्क अमीर *मलिक ऐतमार-कच्चन-अमीर-ए बारबक* और *मलिक एतमार सुरखा-वकील-ए-दार* कहलाते थे। जब दरबार में पुनः जातिगत आधारों पर उच्च अधिकारियों को रखना चाहा तो खिलजियों और भारतीय मुसलमान अधिकारियों ने इसका विरो किया। इन दो ऐतमारों ने जलालुद्दीन सहित अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को हटाना चाहा[3] पर बाद में एक सैन्य विद्रोह में कच्चन और सुरखा दोनों मारे गये। पक्षाघात के कारण शैया पर पड़े कैकुबाद को भी मार डाला गया और यमुना फेंक दिया गया[4] तथा उसके नन्हें पुत्र कैमूर को विद्रोह के अगुवा जलालुद्दीन के खेमे में लाया गया। जलालुद्दीन अब स्पष्टतः राज्य का मालिक था परन्तु इस समय भी वह अपने हाथ में सत्ता लेने में संकोच कर रहा था। उसने पहले बलवन के भतीजे मलिक छज्जू को जो अभी बालक तथा उसके बाद बलवन के व्यक्तिगत मित्र दिल्ली के कोतवाल फखरूद्दीन को सत्ता सँभालने का प्रस्ताव रखा परन्तु जब दोनों ने इनकार कर दिया तब जलालुद्दीन ने अपने को कैमूर का प्रतिशासक (रिजेण्ट) घोषित कर दिया, सिक्का पर उसके नाम खुदवाये और तीन माह तक उसकी तरफ से शासन किया। जब उसके युवा खिलजी अमीरों ने जून 1290 में उसे स्वयं को सुल्तान घोषित करने की सलाह दी तो कैमूर को जेल में डाल दिया गया तथा शीघ्र ही मार डाला गया।

घरेलू नीति

जलालुद्दीन खिलजी दिल्ली के नजदीक कैलूगढ़ी[5] में गद्दी पर बैठा। वह पुरानी राजधानी से लगभग एक वर्ष तक दूर रहा ताकि उसके सामन्त शासकीय राजनीति तथा वंश परिवर्तन के प्रजातंत्रीकरण को स्वीकार कर सकें। उसने अपने कुशल व्यवहार से तथा अच्छे शासन से उनको प्रभावित कर लिया। उसने अपने राजनीतिक विरोधियों के साथ उदारता का व्यवहार किया। उनमें से कइयों को उनके पदों पर ही रहने दिया गया। उसने युवा खिलजियों तथा अन्य सैन्य अधिकारियों, पुराने रक्षक, मलिक-ऊल-उमरा फखरूद्दीन (दिल्ली का कोतवाल), वजीर ख्वाजा खातिर और मलिक छज्जू (कड़ा तथा मानिकपुर का गवर्नर), इन सबको उनके पुराने पदों पर ही रहने दिया। जलालुद्दीन दिल्ली जाने के लिए तभी सहमत हुआ जब दिल्ली के नागरिकों ने उससे आने तथा राजधानी को गौरव प्रदान करने की प्रार्थना की[6]।

जलालुद्दीन ने लगभग छह वर्षों तक शासन किया परन्तु वह कभी भी बलवन के उस सिंहासन पर नहीं बैठा जिसकी उसने वर्षों तक सेवा की थी। उसकी विनयशीलता तथा समर्पण की आम जनता प्रशंसा करती थी किन्तु वे महत्वाकांक्षी खिलजी हताश हो गये जिन्होंने उसे राज्य दिलाने में सहायता की थी। उनकी दृष्टि में जलालुद्दीन का आचरण सम्राट के अनुरूप नहीं था। वे पुराने राजतन्त्र को हटाकर उसके स्थान पर नई राज्य-मशीनरी स्थापित करके जलालुद्दीन तथा बलवन के दिनों का वैभव वापस लाना चाहते थे। किन्तु जलालुद्दीन न तो उन्हें सत्ता का स्वाद चखा सका, न तो बगावत करने वालों में विश्वास उत्पन्न कर सका। सैनिक उसे शारीरिक तथा मानसिक रूप से क्षतिग्रस्त व्यक्ति मानने लगे जो राज्य के शासन हेतु पूर्णतः अनुपयुक्त था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे उसके भतीजे तथा दामाद अब अलाउद्दीन खिलजी का चक्कर काटने लगे जो सत्ता के लिए व्याकुल था। जलालुद्दीन की कमजोर नीतियों के कुछ उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होंगे।

बलवन परिवार के मुख्य पर्यवेक्षक मलिक छज्जू को इलबारी राजकुल के सभी सदस्यों को कारा ले जाने दिया गया। जलालुद्दीन के सिंहासन पर बैठने के तीन माह बाद ही छज्जू ने गंगा घाटी के हिन्दू जमींदारों के साथ मिलकर विद्रोह कर दिया। उसने सुल्तान मुघीसुद्दीन की उपाधि धारण कर ली, सिक्के खुदवाये तथा अपने नाम से खुतवे पढ़वाये। वह बाद में पराजित हो गया तथा सौ अनुयायिओं के साथ बन्दी बना लिया गया। जलालुद्दीन ने उन सभी बन्दियों को खिलजी अमीरों की अनिच्छा होने पर भी छोड़ दिया जो दिल्ली विद्रोह के

दौरान गिरफ्तार कर लिये गये थे। पूर्व विद्रोहियों को भी स्वतन्त्र कर दिया गया। मलिक छज्जू को मुल्तान के गवर्नर अरकलीखान के संरक्षकत्व में आरामदेह जीवन बिताने के लिए भेज दिया गया। सुल्तान की बहन का लड़का मलिक अहमद चैप जो *अमीर-ए-बारबक* था, उसने राज्य के शत्रुओं[7] के प्रति अधिक उदारता दिखाने के लिए सुल्तान की सार्वजनिक रूप से आलोचना की। परन्तु सुल्तान ने अपने व्यवहार को मानवता के आधार पर उचित बताया।

बलबन की मृत्यु के समय से ही सामान्य कानून और शान्ति व्यवस्था में कमी आ गयी थी। राजधानी के चारों ओर से सड़कें डाकुओं की लूटमार से पुनः त्रस्त थीं। उनके इस कार्य को रोकने के लिए उसने प्रयास तो किया परन्तु दण्ड देने की बलबन की नीति को लागू नहीं कर सका। वह उनको केवल यह चेतावनी देकर छोड़ देता था कि पुनः ऐसा कार्य न करें। ऐसा कहा जाता है कि हजारों ठगों को राज्य की नावों में भरकर भोजन तथा अन्य सुविधा देकर तथा यह वायदा लेकर भेज दिया गया कि वे दुबारा यहाँ न आयें[8]। ये मानवतावादी कदम अपराधियों को सुधारने में कहाँ तक सफल हो सके, कहा नहीं जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि उसकी असामाजिक तत्वों के प्रति कमजोर नीतियों से राज्य की प्रतिष्ठा में कमी आयी तथा सुल्तान को लोगों की हँसी का पात्र बनना पड़ा।

सिडी मौला को फाँसी

जलालुद्दीन की उदारवादी नीति में एक अपवाद भी है। वह एक दरवेश सिडी मौला की फाँसी से सम्बन्धित हैं। वह बलबन के समय में फारस[9] से आया था जो पाकपातन (अजोधान) के गंज-ए-शाकर शेख फरीदुद्दीन द्वारा सूफी मत में दीक्षित हुआ। सिडी मौला एक उच्च चरित्र वाला व्यक्ति था। बरनी के अनुसार उसका जीवन सरल था, उसके कोई नौकर नहीं था तथा वह किसी से कभी कुछ नहीं लेता था[10]। उसके अनुयायिओं में कुछ अमीर तथा उदार उलेमा भी थे। बलबन की मृत्यु के बाद सिडी मौला के अनुयायिओं की संख्या बढ़ गयी। उसका खानकाह उसका आशीर्वाद पाने के लिए दूर दूर से आने वालों का तीर्थस्थान बन गया। खानकाह में उनको निःशुल्क भोजन दिया जाता था, जिसकी एक समिति द्वारा व्यवस्था की जाती थी। बरनी के शब्दों में "दिन में जिस तरह से अनेक प्रकार का दो बार भोजन दिया जाता था उस प्रकार की व्यवस्था कोई खान या मलिक नहीं कर सकता था।"[11] वह राजधानी के अमीरों और गरीबों से एक जैसा व्यवहार करता था। अमीरों से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध भी थे। ऐसा कहा जाता है कि पाकपातन जाने पर शेख फरीदुद्दीन ने मलिक

और अमीरों से मित्रता न रखने की सलाह दी क्योंकि ऐसा करना खतरनाक है।[12] सिडी मौला ने इस पर ध्यान नहीं दिया और अंततः परेशानी में पड़ गया।

ऐसा इसलिए हुआ कि सिडी मौला का खानकाह महत्वाकांक्षा एवं प्रभावित अमीरों के मिलने का केन्द्र बन गया जो नये स्थापित खिलजी शासन को नापसन्द करते थे। उन्होंने वहीं पर यह षड्यन्त्र रचा कि जब सुल्तान सवात के लिए जामा मस्जिद में जायें तो जलालुद्दीन को मार डाला जाय और सिडी मौला को खलीफा घोषित कर दिया जाय। यह भी प्रस्तावित हुआ कि वह अपने दावे को पक्का करने के लिए स्वर्गीय सुल्तान नसीरूद्दीन मुहम्मद की लड़की से शादी करेगा। इस तरह से काजी जलाल कासनी ने सिडी मौला को षड्यन्त्र में शामिल कर लिया। दुर्भाग्य से यह समाचार वहीं पर उपस्थित एक व्यक्ति द्वारा सुल्तान के पास तक पहुँचा दिया गया। सिडी मौला तथा अन्य षड्यन्त्रकारियों को गिरफ्तार करके दरबार में पेश किया गया। उन्होंने अपने ऊपर लगाए गये इलजाम से इनकार किया तो सुल्तान उन्हें हल्का दण्ड देने पर सहमत हो गया।

दुर्भाग्य से अपने उदारवादी तथा हठधर्मी नीतियों के कारण सिडी मौला धर्मोन्मत्त मुल्लाओं के फेर में पड़ गया। बरनी कहता है कि धर्म के बारे में उसके अपने निजी विचार तथा कट्टर मुल्लाओं के प्रति गहरी निराशा थी जिनका कहना था कि वह कभी मस्जिद में नमाज अदा करने नहीं गया। इसलिए वे उसे पाखंडी कहते थे और सफाया कर देना चाहते थे। उनका एक नेता शेख अबू बकर तुसी अपने अनेक सहयोगियों के साथ दरबार में उपस्थित था जब सिडी मौला को दरबार में हथकड़ियाँ पहना कर लाया गया। दरवेश ने सुल्तान को वादविवाद में फँसा लिया जो पूर्णत. क्रोध में था। वह तुसी और उसके शिष्यों की तरफ मुड़ा और बोला –

"ऐ दरवेश! मौला से बदला लो।"[13]

उसी के बाद तुसी के एक अनुयायी ने एक चाकू से उसे कई बार काट डाला। अर्कली खान[14] महल के बरामदे से यह घटना देख रहा था। उसने महावत को इशारा किया और महावत ने हाथी को आगे बढ़ाकर सिडी को हाथी के पैरों तले कुचल डाला। इस प्रकार एक ऐसा मानवतावादी राजा के द्वारा सिडी का अन्त हुआ जो एक षड्यंत्रकारी दरवेश का सहन नहीं कर सका और एक ऐसा आदेश दिया जो उनकी प्रतिष्ठा और पवित्रता का हनन कर गया।[15] इस प्रकार सिडी की फाँसी से जलालुद्दीन खिलजी के स्वच्छ नाम पर एक धब्बा लग गया।

मंगोलों के साथ मुठभेड़ (1292 ई0)

हलाकू खान के पोते अब्दुला ने 1292 ई0 में डेढ़ लाख मंगोलों की सेना लेकर आक्रमण कर दिया। वे उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में सुनाम तक फैल गये। जलालुद्दीन ने कई खूनी संघर्षों में मंगोलों को हराया। अब्दुल्ला ने दिल्ली के साथ शान्ति स्थापित कर ली जबकि बन्दी बनाये गये हजारों मंगोल भारत में बस गये और उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया। उनका समर्थन पाने के लिए सुल्तान ने उनके नेता चंगेज खान के परवर्ती उलुग खान के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। ये परिवर्तित मंगोल नये मुसलमान कहलाये और दिल्ली के आस-पास इनसे बसे क्षेत्रों को मुगलपुरा के नाम से जाना जाता था। खिलजी अमीरों ने मंगोलों के प्रति उदारता अपनाने के लिए जलालुद्दीन की आलोचना की। यह एक मुख्य बात थी कि मंगोलों में इस्लाम का प्रचार करने में जलालुद्दीन सफल रहा। बदले में मंगोलों ने जलालुद्दीन के परिवार का समर्थन किया जो बाद में अलाउद्दीन खिलजी के लिए परेशानी का कारण बने।

राजपूतों के विरुद्ध अभियान

जलालुद्दीन की विदेश नीति भी 'कमजोर' तथा 'मूढ़' कही जाती थी। राजपूतों के साथ नीति पालन में भी उसके उदार तथा चंचल चित्त का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उसने रणथम्भौर पर 1290 में चढ़ाई की। यद्यपि कुतबुद्दीन ऐबक द्वारा यह किला जीत लिया गया परन्तु इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद चौहान राजपूतों ने इसे जीत लिया था। राजपूतों ने कड़ा प्रतिरोध किया और जलालुद्दीन को घेरा उठाने के लिए बाध्य कर दिया। सुल्तान यह दलील देकर दिल्ली लौट आया कि वह किला बिना पर्याप्त मुसलमानों के बलिदान के हस्तगत नहीं किया जा सकता और उसकी नजरों में किले का मूल्य एक मुसलमान के उत्तराधिकारी के बराबर भी नहीं था।[16] इस अभियान से इतना ही लाभ हुआ कि झैन का छोटा सा किला राज्य में शामिल कर लिया गया।

1292 में जलालुद्दीन खिलजी ने राजपूतों पर पुनः आक्रमण किया। जोधपुर से लगभग 4 मील उत्तर में स्थित मंडौर का किला सामन्तसिंह चौहान से छीन लिया। राजा की सेना ने पड़ोस में लूटमार मचाई तथा पर्याप्त धन-सम्पत्ति लेकर दिल्ली लौटी। इस आक्रमण का उद्देश्य रणथम्भौर पर सैन्य दबाव बनाना तथा भविष्य के आक्रमण के लिए आधार तैयार करना था।

अलाउद्दीन के अभियान

जलालुद्दीन खिलजी के द्वारा हिन्दुओं के विरुद्ध दो अन्य महत्वपूर्ण सफल

आक्रमण हुए। यद्यपि ये सुल्तान द्वारा नहीं अपितु उसके भतीजे तथा दामाद अलाउद्दीन खिलजी (अली गुरशस्प) द्वारा किये गये जो 1291 से कारा का गवर्नर था। उसने दिल्ली की अनुमति से उज्जैन के मार्ग पर स्थित मिसला (1292) पर अनचीते आक्रमण कर दिया। वह अपने साथ सोना-चाँदी सहित पर्याप्त मात्रा में लूट का माल, घोड़े, हाथी ले आया। इससे सुल्तान जलालुद्दीन बहुत खुश हुआ। उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर उसे अर्ज-ए-मुमालिक ("युद्ध का वजीर") बना दिया तथा उसके प्रशासनिक क्षेत्र में कारा इक्ता के साथ अवध को मिलाकर उसे दूना कर दिया।

अलाउद्दीन ने भिलसा में ही देवगिरी या देवगिर (आधुनिक महाराष्ट्र में दौलताबाद) की समृद्धि के बारे में सुन रखा था। वह विन्ध्य पर्वत शृंखलाओं तथा कृष्णा नदी के बीच स्थित है। इस पर यादव वंश का राजा रामचन्द्र देव (1271-1310) राज्य करता था। इसके राजाओं द्वारा कुशल प्रशासन से वहाँ लगभग एक सदी से सुख शान्ति बनी हुई थी तथा बाहरी आक्रमण नहीं हुए थे। उन्होंने समुद्र पार के देशों से अपना व्यापार बढ़ा लिया था।[17] भिलसा पर प्रारम्भिक सफलता से उत्साहित होकर उसने देवगिरी पर आक्रमण करने तथा वहाँ की सम्पत्ति हथियाने की योजना बनाई जो मुस्लिम आक्रमणकारियों से अछूती थी। इस उद्देश्य के लिए उसने दो वर्ष तक तैयारी की, वहाँ आने जाने वाले यात्रियों तथा अपने गुप्तचरों द्वारा जाने के रास्ते तथा राजनीतिक गतिविधियों के बारे में जानकारी प्राप्त की तथा उसे पूर्णतया गुप्त रखा। अलाउद्दीन ने चन्देरी तथा इसके सम्पर्क के सीमावर्ती क्षेत्रों को जीतने के लिए सुल्तान से अनुमति मांगी तथा 26 फरवरी 1296 को 8000 की सेना लेकर चल पड़ा। उसने कारा और अवध का प्रशासन अपने घनिष्ठ सहयोगी जियाउद्दीन बरनी के चाचा मलिक अल-उलमुल्क को सौंप दिया था। अलाउद्दीन के छोटे भाई अलमस बेग ने दिल्ली के शाही दरबार में असके हितों की रक्षा की। अल-उलमुल्क ने अलाउद्दीन खिलजी के वास्तविक उद्देश्यों से दिल्ली को अनभिज्ञ रखा।

अलाउद्दीन वास्तव में चन्देरी के पड़ोस में आया तथा शीघ्र ही दक्षिण की ओर विन्ध्य पर्वत पार करके यादव राज्य के उत्तरी किनारे इलिचपुर पहुँचा। पड़ोसी हिन्दुओं के सन्देह को खत्म करने के लिए उसने यह अफवाह फैलाई कि वह सल्तनत से भागा हुआ एक राजकुमार है तथा दक्षिण में शरण पाना चाहता है। इलिचपुर में दो दिन आराम करने के बाद वह देवगिरी[19] आ धमका। उस समय युवराज सिंहन ने मराठा सेना की सर्वश्रेष्ठ टुकड़ी को पड़ोसी राज्य में विद्रोह दबाने के लिए भेज रखा था जिसके बारे में अलाउद्दीन को गुप्त स्रोतों से जानकारी

मिल चुकी थी। रामचन्द्र ने पहाड़ी किले[20] के दरवाजे बन्द कर लिये तथा अलाउद्दीन को छूट दे दी कि शहर को जी भर कर लूटे। उसने वहाँ के महत्वपूर्ण नागरिकों को बन्दी बना लिया। अलाउद्दीन ने और किलों पर भी कब्जा कर लिया तथा उसने बताया कि वह सुल्तान की सुरक्षा हेतु अग्रिम रूप में आया है क्योंकि सुल्तान 20,000 सेना के साथ देवगिरी की तरफ आ रहे हैं। पूर्णतया ध्वस्त तथा खिन्न होकर रामचन्द्र शान्ति स्थापित करने तथा अपने नागरिकों को छुड़ाने के लिए बहुत बड़ी रकम देने पर सहमत हो गया। यह सब कुछ होने से पहले ही सिंहन अपनी सेना के साथ वापस लौट आया तो राजा ने उसके पास एक सन्देश भेजा कि आक्रमणकारी से सन्धि हो गयी है जिससे सिंहन उसे लूट का माल वापस करने के लिए तथा राज्य खाली करने के लिए चुनौती न दे। साहसी अलाउद्दीन ने केवल 1000 सेना के साथ अपने सेनापति नुसरत खान को किले पर कब्जा कायम रखने के लिए छोड़ दिया तथा स्यवं देवगिरी से थोड़ी ही दूर पर मराठों पर आक्रमण कर दिया। दिन भर की लड़ाई में बड़ी संख्या में तुर्क मारे गये। अपने साथियों की सहायता के लिए नुसरत खान अलाउद्दीन से आज्ञा लिए बिना किले पर से कब्जा छोड़कर युद्ध में कूद पड़ा। मराठों ने इसे दिल्ली की राजसी सेना समझा तथा युद्धस्थल छोड़कर भाग खड़े हुए। अत्यधिक साहस, अच्छे युद्ध कौशल तथा भाग्य से उसने पुनः किले पर कब्जा कर लिया तथा दो ही दिनों में रामचन्द्र देव को अधीन बना लिया। राजा ने उससे युद्ध न करने तथा इलिचपुर के राजस्व को अलाउद्दीन को देने का वायदा किया। अलाउद्दीन काफी मात्रा में लूट का माल लेकर कारा लौट गया।[21]

चन्देरी पर अलाउद्दीन के अभियान को सुनकर जलालुद्दीन खिलजी दिल्ली से चला तथा उसने ग्वालियर में पड़ाव डाला। जब उसने अपने भतीजे से वास्तविक उद्देश्य तथा देवगिरी पर विजय को जाना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सफलता पर खुशियाँ बनाई तथा शराब बाँटी[22]। उसके कुछ बुद्धिमान सलाहकारों (अहमद चैप[23] के नेतृत्व में) ने सुल्तान को सलाह दी कि वह अलाउद्दीन को चन्देरी के पास रोकने तथा कारा पहुँचने से पहले लूटपाट का सामान प्राप्त करे। दुर्भाग्य से जलालुद्दीन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह यह सोच कर दिल्ली लौट आया कि जो कुछ उसके भतीजे तथा दामाद ने पाया है वह उसे प्रसन्नतापूर्वक यहाँ ले आयेगा।[24]

लौटते समय असीरगढ़ के चौहानों ने अलाउद्दीन पर आक्रमण किया परन्तु अलाउद्दीन ने उन्हें पराजित कर दिया। वह विजयी होकर 3 जून 1296 को कारा वापस लौटा। देवगिरी पर उसका आक्रमण भारत के मध्यकालीन इतिहास

में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।[25]

जलालुद्दीन खिलजी की हत्या

देवगिरी अभियान की विजय से अलाउद्दीन का सिर फिर गया। अपने जोखिम तथा कौशल से लूटे गये धन को वह बाँटना नहीं चाहता था। अतः दिल्ली न आने का उसने बहाना बनाया तथा सुल्तान को कारा आकर लूट का माल प्राप्त करने के लिए राजी कर लिया। जलालुद्दीन ने अपने भतीजे के प्रेम में अंधा होकर अपने दरबारियों के विरोध और सलाह को अनसुना कर दिया। वह और उसके अमीर सरदार नाव से चले तथा अहमद चैप एक हजार की छोटी घुड़सवार सेना लेकर गंगा के किनारे-किनारे चला। वह 20 जुलाई 1296 को कारा पहुँचा। बरसात का मौसम था और नदी अपने उफान पर थी। अलाउद्दीन की सेना गंगा के उस पार कारा और मानिकपुर के बीच थी। अलमस वेग की आनाकानी के बावजूद सुल्तान ने अपने सैनिकों तथा अंगरक्षकों को वहीं रुकने का आदेश दिया तथा अपने कुछ साथियों को लेकर दो नावों में उस पार अलाउद्दीन की सेना के बीच पहुँचा। अलाउद्दीन उसकी अगवानी के लिए आगे बढ़ा। उसके सभी अधिकारियों ने उसका सम्मान किया । वह सुल्तान के पैरों पर गिर पड़ा। सुल्तान ने पुत्रवत् उसकी आँखें और गालों को चूमा। उसी समय अलाउद्दीन के रक्षकों ने सुल्तान की गर्दन काट दी[26]। बरनी लिखते हैं। "अभी सुल्तान के कटे सिर से रक्त बह रहा था कि षड़यंत्रकारियों ने राजसी मुकुट लाकर अलाउद्दीन के सिर पर रख दिया। सारी लाज-हया ताक पर रखकर हाथियों पर सवार उसके आदमियों ने उसे राजा घोषित कर दिया।"[27]

बरनी इस जघन्य अपराध की कड़े शब्दों में निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि जो लोग इस कार्य में भागीदार थे उन्हें प्रकृति के द्वारा देर-सबेर उपयुक्त दण्ड मिला[28]।

मूल्यांकन

दिल्ली के तुर्क सुल्तानों में जलालुद्दीन उदार व्यक्तित्व वाला पहला सुल्तान था। युवा रूप में एक सफल सेनानायक, एक अनुभवी प्रशासक तथा समभाव से लोगों पर उसने शासन किया। जो भी हो, वह एक अराजनीतिक व्यक्ति था, जो सुल्तान बनने की इच्छा नहीं रखता था। प्रकृति ने उसको दया का गुण दिया था जिससे वह उच्च तथा निम्न सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करता था। वह कभी बलबन के राजसिंहासन पर नहीं बैठा और न ही बलबन के महल के आँगन में गया। उसकी उदारता से "खिलजी क्रान्ति" के नायकों के स्वाभिमान

को धक्का लगा। उनकी दृष्टि में जलालुद्दीन उनकी इच्छाओं की पूर्ति करने में असफल रहा तथा राजा बनने के योग्य नहीं था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसे बहुत से सहयोगी एवं उसके भतीजे उस महत्वाकांक्षी अलाउद्दीन खिलजी के पास एकत्र होने लगे जो मामलुक तुर्कों की जातिगत नीति के स्थान पर एक व्यवस्थित साम्राज्यिक अर्थव्यवस्था स्थापित करना चाहता था[29]। एक आधुनिक इतिहासकार के शब्दों में -

"हृदय परिवर्तित अशोक की तरह जलालुद्दीन मानव प्रेम तथा विश्वास के साथ राज्य करना चाहता था किन्तु यदि उसे अपनी असफलता का बदला प्राण देकर चुकाना पड़ा तो यह ऐसा अभियोग था जिसके प्रायश्चित के लिए मानव ने कुछ नहीं किया।"[30]

अलाउद्दीन खलजी का प्रारम्भिक जीवन तथा राज्यारोहण

अलाउद्दीन खिलजी का असली नाम अली गुरशस्प[31] था। वह जलालुद्दीन खिलजी का भतीजा था। वह सिरसा में 1266 ई0 में पैदा हुआ था। पिता के असमय मर जाने के कारण उसका पालन-पोषण उसके चाचा ने किया था। यद्यपि उसे उचित शिक्षा नहीं मिली थी परन्तु बड़ा होकर वह एक योग्य योद्धा, अत्यधिक महत्वाकांक्षी, आक्रामक और स्वार्थी बन गया। उसका विवाह जलालुद्दीन की एक पुत्री से हुआ था।

खिजली क्रान्ति में उसने सक्रिय योगदान किया। जलालुद्दीन के सुल्तान बनने पर वह *अमीर-ए-तुजुक* (समारोहों का स्वामी) बना तथा उसका भाई अलमास वेग *अमीर-ए-अखुर* (घोड़ों का स्वामी) बना। मलिक छज्जू के विद्रोह में अलाउद्दीन ने अपनी संगठनात्मक शक्ति का परिचय दिया और उसे हराया जिससे 1291 ई0 में कारा का गवर्नर बन बैठा। भिलसा (1292) पर जीत के बाद उसे *अर्ज-ए-मुमालिक* (युद्ध का वजीर) तथा अवध का इक्ता भी मिला[32]।

किन्तु अलाउद्दीन का पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं था। उसकी दो पत्नियाँ[32] थीं - एक जलालुद्दीन की लड़की और दूसरी मलिक संजार[33] की बहन महरू। महरू अलाउद्दीन की प्रिय पत्नी[34] थी जबकि सुल्तान की लड़की घमण्डी थी अतः वह उसे नहीं चाहता था। जब राजकुमारी महरू से खुली ईर्ष्या[35] करने लगी और अलाउद्दीन पर रोब जताना चाहा तो वह उससे लड़ बैठा। सुल्तान जलालुद्दीन की रानी मलिका-ए-जहाँ भी उतनी ही आक्रामक थी। पति-पत्नी को समझाने के बजाय उसने अपनी पुत्री का ही पक्ष लिया और अलाउद्दीन की गलती बताई। बरनी लिखते हैं[36] -

"अलाउद्दीन नहीं चाहता था कि सुल्तान के सामने अपनी पत्नी की अवज्ञा को प्रकट करे। सार्वजनिक रूप से अपनी छवि खराब होते नहीं देखना चाहता था। इससे वह अति दुःखी था। अक्सर वह कारा में अपने अन्तरंगियों से संसार में अपना स्थान बनाने के विषय में सलाह-मशविरा करता।"

अलाउद्दीन और राजपरिवार की औरतों के बीच के सम्बन्ध भी अच्छे नहीं थे। कारा पहले से ही षडयन्त्रकारियों का अड्डा बन चुका था। सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करने वाले मलिक छज्जू को मुल्तान भेज दिया गया था परन्तु उसके अधिकांश साथी तथा सैनिक जिन्होंने बगावत में भाग लिया था वे कारा में ही कैद थे। जलालुद्दीन की ही तरह अलाउद्दीन ने भी उन्हें छोड़ दिया तथा कुछ को अपनी सेना में रख लिया। इन्हीं लोगों ने अलाउद्दीन को सलाह दी कि कारा में एक बड़ी सेना एकत्र की जाय और उसी से दिल्ली पर विजय पाई जाय। केवल धन की आवश्यकता थी और यदि इसकी कमी न होती तो मलिक छज्जू सफल हुआ होता"। देवगिरी पर (1296) अलाउद्दीन द्वारा किये गये आक्रमण ने इस कमी को पूरा कर दिया। उसकी इच्छायें आसमान छूने लगा तथा सिंहासन पाने के लिए उसने षड्यन्त्र रचा कि यदि इसमें वह असफल रहे तो वह अपनी सम्पत्ति तथा सेना के साथ बंगाल की ओर भाग जाय और वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की कोशिश करे। भाग्यवश अनभिज्ञ सुल्तान अपने प्रिय भतीजे तथा दामाद तथा उसके छोटे भाई अलमस बेग का शिकार बना। सुल्तान की हत्या की योजना पूर्वनिर्धारित नहीं थी। ऐसा लगता है कि यह अपराध करने की बात उसी समय अलाउद्दीन के मन में आई जब बूढ़ा सुल्तान उसकी सेना के बीच अकेले आ गया।

कारा में जलालुद्दीन की हत्या के तुरन्त बाद अलाउद्दीन 20 जुलाई 1296 को दिल्ली का सुल्तान घोषित हो गया। मलिक अहमद चैप तुरन्त ही जलाली अमीरों और मलिका-ए-जहाँ से आगे की कार्यवाही हेतु सलाह लेने भागा। मृतक सुल्तान का दूसरा लड़का अरकली खान, जो सिंहासन का उत्तराधिकारी था, मुल्तान में था। बड़ा लड़का खान-ए-खाना खिलजी क्रान्ति (1290) के कुछ समय बाद ही मर गया था। अरकली खान के न रहने पर मलिका-ए-जहाँ ने एक गलती की तथा अपने तीसरे लड़के कादर खान को रूकुनुद्दीन नाम से सुल्तान घोषित कर दिया तथा स्वयं संरक्षिका बन गयी। इससे जलाली अमीरों में फूट पड़ गयी तथा अरकली खान इतना नाराज हुआ कि वह राजधानी की रक्षा के लिए दिल्ली नहीं आया बल्कि मुल्तान में ही रुका रहा। अलाउद्दीन ने अपना सन्दूक खोलकर जलाली अमीरों को सोना-चाँदी देकर जीत लिया"।

अलाउद्दीन को दिल्ली पहुँचने में तीन मास लगे। इस बीच उसके पास एक लाख से अधिक सेना थी। दिल्ली जाते समय वह रास्ते भर लोगों को मुक्तहस्त सोना-चाँदी लुटाता गया। उसने 26 अक्टूबर 1296 को राजधानी में प्रवेश किया जहाँ लोगों ने उसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया। जलाली परिवार के सदस्य पहले ही मुल्तान भाग चुके थे। बलबन के सिंहासन पर ही दौलत-खाना-ए-जुलूस में गद्दी पर बैठा तथा अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद-दुनिया वा दीन मुहम्मद शाह खिलजी की पदवी के साथ राजमुकुट धारण किया। अपने मित्रों को उसने ऊँचे पद दिये और अनेक जलाली अमीरों को उनके पद पर ही रहने दिया। यहाँ तक कि वजीरात (मुख्य वजीर) पुराना ख्वाजा खाजिर ही रहा। अलाउद्दीन का छोटा भाई उलुग खान के नाम से राज्य का प्रमुख अमीर बना तथा संजार को अल्पखान नाम दिया गया। मलिक हजबरूद्दीन अब जफर खान कहा जाने लगा। वह *अर्ज-ए-मुमालिक* बना। नुसरत खान को दिल्ली में नियुक्त किया गया जबकि अलउलमुल्क को कारा का गवर्नर बनाया गया। सभी सैनिकों के इनाम के रूप में छः माह का वेतन दिया गया; उलेमाओं, शेखों और अन्य अमीरों को जमीन और पदवियाँ दी गयीं तथा नगर में आने वाले पर्यटकों तथा वहाँ के निवासियों को अनेक उपहार भी दिये गये। इस प्रकार शाही खर्चे से हफ्तों तक उत्सव मनाया जाता रहा[39]। इस बारे में बरनी की टिप्पणी[40] है -

"लोग सोने के कारण इतने मोहित हो गये थे कि किसी ने सुल्तान के जघन्य अपराध की चर्चा तक न की। लाभ की आशा से उन्हें अन्य किसी बात की चिन्ता ही नहीं रही।"

जलाली परिवार का अन्त

दिल्ली आने पर अलाउद्दीन का पहला कार्य मुल्तान तथा सिन्ध के गवर्नर अरकली खान तथा राज परिवार से सम्बन्ध ठीक करना था। उलुग खान (अलमस वेग, सुल्तान का छोटा भाई) और जफर खान को 40,000 सेना के साथ मुल्तान भेजा गया। उन्होंने मुल्तान के किले पर कब्जा कर लिया तथा विरोधियों को दो माह के अन्दर आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। अरकली खान कादर खान (पूर्व सुल्तान रूकनुद्दीन), मलिक अहमद चैप, और उलुग खान (जलालुद्दीन खिलजी का मंगोल दामाद) को कैद करके अन्धा बना दिया गया। अरकली खान तथा कादर खान को हाँसी के कोतवाल को सुपुर्द कर दिया गया जिसने बाद में इनको मार डाला। मलिक अहमद चैप, उलुग खान तथा मलिका-ए-जहाँ को दिल्ली में नुसरत खान को कैद में रखा गया और उसके बाद उनके बारे में कुछ भी नहीं सुनाई दिया। उलुग खान को मुल्तान तथा सिन्ध

की इक्ता सौंपी गयी। जलाली अमीरों की जमीन तथा सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और जिन लोगों ने जलाली राजकुमारों की सहायता की थी उन्हें कड़ा दण्ड दिया गया।

अलाउद्दीन : एक निरंकुश शासक

उसकी राज्यनीति : दरबारियों, सहयोगियों तथा साथियों द्वारा आक्षेप न किये जाने के कारण मुल्तान तथा सिन्ध जीतने तथा राजसी परिवार के विनाश के बाद अमीरों के प्रति उसके मन में भिन्न विचार उत्पन्न हो गये। एक बार सिंहासन पर अपने को सुरक्षित अनुभव करने के बाद उसने आश्चर्यजनक रूप में उन पूर्व जलाली अमीरों का सफाया किया जिन्होंने उसके द्वारा इनाम दिये जाने पर अपने पुराने स्वामी के साथ विश्वासघात किया था। कुछ समय पूर्व अलाउद्दीन को इनसे समर्थन और लाभ मिला था। फिर भी उन अमीरों को उसने विश्वासघाती घोषित कर दिया। अलाउद्दीन ने उनसे वह सारा सोना वापस ले लिया जो उसने उन्हें दिया था, उनकी पदवियाँ छीन लीं, कुछ को अंधा कर दिया तथा सिर काट लिये"। तब वह अपने सहयोगियों और मित्रों की ओर मुड़ा जो उच्च पदों पर थे। उसने अलउलमुल्क को दिल्ली बुला लिया तथा कारा में छोड़ी गयी सारी सम्पत्ति तथा हाथी-घोड़े वापस करने को कहा। अपने मोटे शरीर के कारण उसे दिल्ली में ही कोतवाल के रूप में रहने को कहा गया जबकि नुसरत खान जिसने पूर्व जलाली अमीरों से दण्ड तथा अन्य रूप में करोड़ों की रकम खजाने में पहुँचायी थी उसे कारा का नया गवर्नर बना दिया गया। अपने तानाशाही आदेश तथा उच्च पदों में तेजी से हेर-फेर करके अलाउद्दीन अमीरों पर हावी हो गया जिससे कि कोई भी अमीर किसी पद पर बहुत अधिक शक्तिशाली न रहे। इसके पूर्व कि उसका कोई पुराना सहयोगी सुल्तान से किसी भी द्विपक्षीय सम्बन्धों के बारे में सोचे वह पूर्णतया निरंकुश शासक बन बैठा। उसे बलबन द्वारा स्थापित दैवी राज्य सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित करना ही सबसे उपयुक्त लगा। उसने अपने को *जिले-इलाही* (पृथ्वी का खुदा) का साया घोषित किया। वह ऐसी दैवी शक्तियों तथा गुणों का स्वामी होने का दावा करने लगा जो अन्य किसी में न हों। उसके अनुसार उसकी तुलना किसी व्यक्ति से नहीं की जा सकती थी। उसका विश्वास था कि राजा का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं होता इसलिए उसके राज्य के सभी लोग उसके नौकर या मातहत हैं। वह राजा को देश के नियमों से ऊपर मानता था। उसके वाक्य ही कानून थे। उसके ये शब्द इस्लाम के उन सिद्धान्तों के विरुद्ध थे जिन पर तुर्क साम्राज्य स्थापित हुआ था।

अलाउद्दीन एक सुन्नी मुसलमान था तथा वह इस्लाम के कानूनों में कभी

नहीं पड़ता था। फिर भी शासक के रूप में साक्षात् कानून था। बयाना के काजी मुगीसुद्दीन से राजनीति के विषय में बातचीत करते हुए अलाउद्दीन ने ये बातें कहीं -

> "उस विद्रोह को रोकने के लिए जिसमें हजारों मरते ऐसे आदेश देता हूँ जो राज्य तथा लोगों के हित में हो। लोग बेपरवाह, अनादर की भावना से पूर्ण तथा मेरे आदेशों का उल्लंघन करने वाले हैं। तब उन्हें आज्ञापालक बनाने के लिए मुझे बाध्य होना पड़ता है। मैं नहीं जानता कि यह वैध है या अवैध। मैं जो कुछ राज्य की भलाई के लिए सोचता हूँ वही करता हूँ।"[42]

राज्य के बारे में अलाउद्दीन की नीतियों को, उसे 'राज्य' और 'स्व-रूचि' को राज्य की भलाई के रूप में देखें तो अच्छी तरह से समझा जा सकता है। इस्लामी राज्य के मुखिया के रूप में अलाउद्दीन ने अपने को *यामिन उल खिलाफत नसीरी अमीर उल मोमिन* के रूप में ही रखा। अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए खलीफा द्वारा कहलवाने की जरूरत नहीं समझी। न ही उसने खलीफा को अपनी प्रतिष्ठा के लिए आवेदित किया और उसे राजनीतिक प्रमुख माना। कार्यालय के अभिलेखों में खलीफा का नाम रखने का कारण सामान्यत: खलीफा की परम्परा को जीवित रखना था।

अमीरों (*अहल-ए-शमशीर*) और उलेमाओं (*अहल-ए-कलाम*) ने राज्य के मामलों को प्रभावित करना आरम्भ किया तो अलाउद्दीन ने उनकी शक्ति सीमित कर दी जिससे वे राजनीति को प्रभावित न कर सकें। वह पूर्णतया आत्म-केन्द्रित राजा था तथा उसने अपने दरबारियों को इतना डरा दिया था कि कोई भी वजीर उसकी आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी बोलता या सलाह देता नहीं था। अमीर तो पूर्णतया उसके अधीन थे परन्तु उलेमाओं को भी उसने राज्य की नीति में हस्तक्षेप करने की छूट नहीं दी। जो भी हो, अलाउद्दीन ने शेखों और मुल्लाओं की सार्वजनिक रूप से कभी भी आलोचना नहीं की। मुस्लिम विद्वानों, मुल्लाओं, शेखों को कुछ धनराशि *मदद-ए-माश* तथा सम्मान दिया जाता था। न्याय तथा शैक्षिक क्षेत्र के सभी पद उनके लिए आरक्षित थे। उनके प्रमुखों को शिक्षण संस्थाओं, दरबारों, पवित्र स्थानों, धार्मिक मदों के प्रबन्ध की पूरी छूट दी गयी थी। उन्हें मुसलमान समुदाय की सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की भी पूरी छूट थी। समय-समय पर अलाउद्दीन ने हिन्दू शासकों के विरुद्ध कार्यवाही में मुस्लिम धर्मोन्माद का भरपूर उपयोग किया। अलाउद्दीन पहला तुर्क शासक था जिसने धर्म को राजनीति से अलग किया और इस तरह पंथ-निरपेक्ष राज्य की शुरूआत की[43]। बरनी लिखते हैं कि

"अलाउद्दीन जब राजा बना तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि नीति और सरकार एक है और नियम तथा इस्लाम के कानून अलग हैं। राजसी आदेश राजा से सम्बन्धित होता है तथा ईश्वर इच्छा काजियों और मुफ्तियों के न्याय पर निर्भर है। उसके विचार में उसके सामने राज्य नीति के निर्णय केवल राज्य की भलाई के लिए होते हैं, इस पर ध्यान नहीं दिया जाता था कि यह नियमानुसार है या अनियमानुसार। राजनीतिक मामलों में उसने कभी भी कानूनी विचार नहीं जानना चाहा और बहुत कम विद्वान उससे मिलने आये।"[44]

अलाउद्दीन के 20 वर्षों के लम्बे शासन काल में हमें केवल दो उदाहरण मिलते हैं जब उसने इस्लाम के आध्यात्म पर अपने ही घनिष्ठों, दिल्ली के कोतवाल अलउल मुल्क तथा सुल्तान के व्यक्तिगत मित्र बयाना के काजी मुगीसुद्दीन से चर्चा की। अलाउद्दीन ने उलेमाओं को उनके अधिकारों को चुनौती देकर कभी भी नाराज नहीं किया बल्कि उन्हें उदारतापूर्वक तथा निरंकुशता का भय दिखाकर अपने अधीन रखा ताकि वे भी आज्ञापालक बन सकें। दरबार में मुगीसुद्दीन का आदर एक सामान्य अमीर की तरह ही किया जाता था, न कि एक बहुत बड़े इस्लाम के ज्ञाता के रूप में। एक दिन जब विभिन्न विषयों पर कर बढ़ाने के प्रयास चल रहे थे उसी समय अलाउद्दीन ने मुगीसुद्दीन से अनेक प्रश्नों पर चर्चा करने की इच्छा व्यक्त की और कहा कि इस मामले में वह पूर्णतया सच बोले। इससे काजी डर गया और बोला -

"लगता है मौत का फ़रिश्ता मेरे पास आ गया है। आप धर्म की बातों पर प्रश्न करना चाहते हैं, यदि मैं सच कहूँगा तो आप नाराज होकर मुझे मार डालेंगे।"

सुल्तान ने उसे जीवन-दान का वचन दिया लेकिन यह आदेश दिया कि वह वैसा ही बोले जो उसने किताबों में पढ़ा है। मुस्लिम राज्यों में हिन्दुओं से व्यवहार के बारे में पूछे गये अनेक प्रश्नों के उत्तर काजी ने दिये। अलाउद्दीन उसके उत्तरों पर हँसा और बोला -

"बताये गये वाक्यों में से कुछ मैंने भी नहीं समझा - मैंने अपनी कार्यवाही कर ली है और उन्हें आज्ञाकारी बना लिया है। मेरे आदेश पर वे बिल में चूहों की तरह रेंगने के लिए तैयार हैं।"[45]

इससे यह पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी एक निरंकुश शासक था तथा राजा विषयक सिद्धान्त को इस्लाम के सिद्धान्तों से कुछ भी लेना-देना नहीं था।

अलाउद्दीन खिलजी के मनमाने लक्ष्य : विश्वासघात तथा नृशंसता द्वारा सिंहासन हथियाने के साथ-साथ अकूत सम्पत्ति पर कब्जा तथा मुल्तान और सिंध में जल्दी-जल्दी विजय होने से उसकी इच्छाएँ आसमान छूने लगीं वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी बन गया[46]। अलाउद्दीन का दिमाग फिर गया, वह नया धर्म स्थापित करने की दुहरी प्रयोजना पर विचार करने लगा तथा सिकन्दर की तरह विश्व विजय का अभियान चलाने की सोचने लगा। उसने कहा कि जिस तरह पैगम्बर मुहम्मद के अबू बकर, उमर, उसमान और अली ये चार साथी थे उसी तरह हमारे भी चार सेनापति - उलुग खान, जफर खान, नुसरत खान तथा अल्प खान हैं। उसने घोषणा की -

"इन चार मित्रों की सहायता से मैं एक नये धर्म तथा जाति की स्थापना कर सकता हूँ और मेरे मित्रों की तलवारें सभी लोगों को यह धर्म स्वीकार कराने को बाध्य करेंगी। इस धर्म के द्वारा मेरा नाम और मेरे मित्रों का नाम पैगम्बर मुहम्मद और उनके मित्रों की तरह ही अन्तिम दिन तक बना रहेगा।"[47]

अलाउद्दीन अपनी दूसरी योजना को इस प्रकार उद्घाटित करता

"मेरी इच्छा है कि दिल्ली को एक उप-निरीक्षक के अधीन रख दूँ और सिकन्दर की तरह सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त करने और दमन करने के लिए निकल पड़ूँ"[48]

अपनी प्रारम्भिक विजयों से फूलकर वह अपने को खुतबा में तथा सिक्कों पर दूसरा सिकन्दर (*सिकन्दर-ए-सानी*) लिखवाने लगा। वह तो अलाउल मुल्क था जो इन काल्पनिक उद्देश्यों की अव्यावहारिकता के बारे में बताकर उसके होश ठिकाने करता रहता था। उसने यह कहने का दुःसाहस किया कि धर्म और मतों को उसे बहस का विषय नहीं बनाना चाहिये क्योंकि यह पैगम्बरों का काम है, न कि राजा का। उसने इस बात पर जोर दिया कि राजाओं ने कभी भी पैगम्बर का कार्य नहीं किया है यद्यपि कुछ पैगम्बरों ने राजा का कार्य किया है[49]। पूरे विश्व को विजित करने के विषय में अलाउल मुल्क ने कहा कि भारत में ही कई ऐसे क्षेत्र हैं जो अभी कब्जे में नहीं हैं। सल्तनत को मंगोलों से अत्यधिक खतरा है और राज्य में अरस्तू की तरह कोई मन्त्री नहीं है जो आपके लम्बे समय तक देश से बाहर रहने पर शासन प्रबन्ध कर सके।[50] अलाउल मुल्क ने सुल्तान को सलाह दी कि वह राजकाज में अधिक ध्यान दे तथा अन्य विलासिताएँ एवं शराब पीना कम कर दे। अलाउद्दीन इससे काफी प्रभावित हुआ, उसने उसे पर्याप्त सम्मान दिया तथा उसकी सलाह मानने का वादा किया। बरनी के अनुसार ये बातें भारत पर कुतलुगख्वाजा (1299 ई0) द्वारा तृतीय मंगोल आक्रमण के

समय चारों मुख्य खानों (उलुग खान, जफर खान, नुसरत खान और अल्प खान) की उपस्थिति में हुई[51]। उसकी नेक सलाह का अलाउद्दीन खिलजी पर तुरन्त प्रभाव पड़ा। अलाउद्दीन के गद्दी पर बैठने के कुछ ही समय बाद जल्दी-जल्दी एक एक करके बड़ी शीघ्रता से मंगोलों द्वारा तीन आक्रमणों (1297, 1298 और 1299) से अलाउद्दीन अपने राज्य को बड़ी मुश्किल से बचा सका। भारत के अन्य हिस्सों को अपने नियन्त्रण में लाने का हिन्दू सामन्तों ने घोर विरोध किया। रणथम्भौर के किले पर ही कब्जा करने में (1300-1) कई माह लगे। इसने उसे इस कटु यथार्थ से अवगत करा दिया कि वह 'मुर्खों की दुनिया में' रह रहा था जब उसने 'सिकंदर की भूमिका निभाते हुए विश्व-विजय'[52] की बात की। उसके शासन के चार वर्षों के अन्दर ही उसके ऊपर चार बार विद्रोहियों द्वार घात लगाकर आक्रमण किये गये। इन सबसे उसकी अव्यावहारिक योजनाएं छू-मन्तर हो गयीं। उसने अब नये धर्म स्थापित करने और विश्व विजय करने का विचार त्याग दिया। उसने मंगोल आक्रमण से सल्तनत की रक्षा के लिए, अपनी सेना को मजबूत बनाने तथा खजाने में धन एकत्र करने, अमीरों के अधिकारों में कटौती करने और अपने साम्राज्य का विस्तार करने से सम्बन्धित नीति अपनाई। इन उद्देश्यों की पूर्ति में उसे पर्याप्त सफलता मिली।

अलाउद्दीन की साम्राज्यवादिता : जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दिल्ली की गद्दी पर बैठने के तुरन्त बाद ही उसने मुल्तान तथा सिन्ध के सूबों (इक्ताओं) को (1296-97) जलाली परिवार से ले लिया। ये क्षेत्र उसके छोटे भाई उलुग खान और जफर खान द्वारा जीते गये थे। उलुग खान इस दोनों राज्यों का गवर्नर नियुक्त किया गया। मंगोलों के पहले आक्रमण से अपने को बचाने के बाद अलाउद्दीन ने गुजरात के धनी और उर्वर क्षेत्र पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उस समय वहाँ राय करन देव बघेला[53] का शासन था। उसकी राजधानी अनहिलवाड़ा[54] थी। 1299 से पहले ही अलाउद्दीन ने गुजरात पर दो तरफ़ा आक्रमण करने का आदेश दिया था। उलुग खान ने अपनी सेना के साथ सिन्ध की ओर से तथा नुसरत खान ने दिल्ली की ओर से आक्रमण किया। राजसी सेना चित्तौड़ के राजपूतों मे न लड़कर गुजरात की तरफ मुड़ी। करन देव अनभिज्ञ था, वह दक्षिण की ओर भागा और देवगिरी के शासक रामचन्द्र देव की शरण में पहुँचा। अनहिलवाडा बिना किसी युद्ध के जीत लिया गया। राय करन के खजाने एवं अनेक औरतों के साथ प्रमुख रानी कमला देवी भी आक्रमणकारियों के हाथ पड़ गयीं। सोमनाथ का मंदिर[55], खम्भात का जहाजी बन्दरगाह और अन्य शहर भी आक्रमणकारियों द्वारा लूट लिये गये। हजारों पुरुषों और स्त्रियों को दास बना

लिया गया। गुजरात का राज्य, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि का बन्दरगाह था, अलाउद्दीन के हाथ में रसभरे पके फल की तरह टपक पड़ा। अल्प खान उसका गवर्नर बना।

गुजरात की विजय इसलिए स्मरणीय है कि इसमें अलाउद्दीन के शासनकाल में दो ऐतिहासिक व्यक्ति उभर कर आए। सुल्तान ने हिन्दू रानी कमला देवी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर शीघ्र ही उससे विवाह करके मुख्य रानी (मलिका-ए-जहाँ) बना लिया। अलाउद्दीन की दूसरी महत्वपूर्ण खोज थी एक बहुत ही सुन्दर मुसलमान हिजड़ा काफूर[56] जो पहले हिन्दू था जिसे नुसरत खान ने खम्भात के एक मुस्लिम व्यापारी ख्वाजा से खरीदा था। वह बाद में एक कुशल सैन्य अधिकारी तथा अलाउद्दीन का मलिक नायब बना।

गुजरात से दिल्ली लौटने पर सेनापतियों ने सैनिकों द्वारा लूट के माल का पाँचवाँ हिस्सा राज्य के हिस्से के रूप में माँगा और उनके व्यक्तिगत पेटियों में छिपाये गये धन को पाने के लिए क्रूर ढंग से व्यवहार किया। इससे कुछ हजार नये मुसलमानों ने विद्रोह कर दिया जिसे सेनापतियों ने कड़ाई से कुचला। कहा जाता है कि -

> "जैसे ही विद्रोह की बात दिल्ली पहुँची वैसे ही क्रूर अलाउद्दीन ने आज्ञा दी कि विद्रोहियों के बच्चों और उनकी औरतों को बन्दी बना दिया जाय। यह पुरुषों की गलतियों के लिए औरतों तथा बच्चों को बन्दी बनाने की शुरूआत थी। इसके पहले पुरुषों द्वारा की गयी गलतियों के लिए औरतों और बच्चों को कभी नहीं पकड़ा गया था।"[53]

बरनी कहते हैं कि विद्रोहियों द्वारा नुसरत खान के भाई की हत्या कर दी गई और बदले में नुसरत खान ने जो उस समय दिल्ली में वजीर था, सुल्तान के कदमों पर चलते हुए यह आदेश देकर नृशंसता का कार्य किया।

> "विद्रोहियों की पत्नियों को अपमानिक किया जाय तथा उनके साथ घृणास्पद व्यवहार किया जाय तथा उन्हें वेश्या बना लिया जाय। उसने बच्चों को उनकी माताओं के सामने ही कटवा डाला। इस तरह के अत्याचार किसी धर्म या पन्थ में नहीं किये गये। इस प्रकार के कार्यों से दिल्ली के लोग भयभीत हो गये तथा हर व्यक्ति काँप उठा।"[58]

गुजरात की आसान विजय से अलाउद्दीन खिजली शक्ति और गर्व से उन्मत्त हो उठा। इससे समुद्री व्यापार और वाणिज्य में काफी प्रसिद्धि मिली तथा मुस्लिम संसार में उसका काफी नाम हुआ। इस विजय के बाद उसने पूरे भारतीय उपमहाद्वीप

को अपने अधिकार में करने का फैसला किया। प्राचीन समय के चक्रवर्ती सम्राटों की तरह अलाउद्दीन ने भी भारत का निष्कंटक राजा बनने की इच्छा व्यक्त की। साम्राज्यवादी नीति के कारण उसे अन्य हिन्दू राज्यों पर आक्रमण करने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता नहीं थी। वह निर्दयतापूर्ण आक्रमण करता रहा तथा अन्ततः पूरे भारत को अपने अधीनस्थ कर लिया।

अपनी साम्राज्यवादी नीति में उसने सर्वप्रथम रणथम्भौर तथा चित्तौड़ के शक्तिशाली राजपूत राज्यों को हस्तगत करना चाहा। गुजरात की विजय के कारण अब राजपूताना तीन ओर से दिल्ली सल्तनत से घिरा था। अलाउद्दीन का कार्य अब और आसान हो गया। उस समय रणथम्भौर का राजा पृथ्वीराज चौहान तृतीय का वंशज राणा हमीर देव था। किले को सबसे पहले कुतबुद्दीन ऐबक तथा बाद में इल्तुतमिश ने जीता था परन्तु उसकी मृत्यु के बाद पुनः राजपूत चौहानों ने ले लिया। 1291 में जलालुद्दीन ने इसे जीतने के लिए काफी प्रयास किया। अलाउद्दीन के गुजरात के दो विजेताओं उलुग खान और नुसरत खान को 1300 ई० में चौहानों पर आक्रमण करने का आदेश दिया गया क्योंकि गुजरात विजय के समय हमीर देव ने कुछ मंगोल विद्रोहियों को शरण दी थी। यद्यपि राजपूतों ने वीरतापूर्वक विरोध किया किन्तु राजसी सेना ने किले को जीत लिया। राजपूतों से लड़ाई के दौरान नुसरत खान किले पर कब्जा करते समय मार डाला गया। इससे अलाउद्दीन स्वयं ही लड़ने को बाध्य हुआ। घेरा लगभग एक वर्ष तक चला। अंततः हमीर देव के मंत्री रणमल के विश्वासघात से किले पर शाही फौज का कब्जा हो गया - सुल्तान ने रणमल को सोना और उच्च पद देने का वादा कर उसे अपने पक्ष में कर लिया था। राजपूतों ने जौहर किया, राजपूत स्त्रियों ने आग में जल कर अपनी लाज रखी तथा हमीर देव के नेतृत्व में पुरुषों ने आक्रमणकारियों से युद्ध करके वीरगति प्राप्त की"। अपनी विजय के बाद अलाउद्दीन ने रणमल को मृत्यु-दंड दिया क्योंकि उसने अपने ही लोगों को धोखा दिया था।

अलाउद्दीन को रणथम्भौर के किले के घेरे के समय तीन दिशाओं से विद्रोहों (1300-01) का सामना करना पड़ा। रणथम्भौर के रास्ते में सुल्तान के भतीजे अकतखान ने उस पर जानलेवा हमला किया। अलाउद्दीन आक्रमणकारी द्वारा गिरा दिया गया लेकिन उसके दासों की चतुराई और अच्छे भाग्य के कारण बच गया। रणथम्भौर के घेरे के समय अवध और बदायूँ के गवर्नर उमर खान तथा मंगूखान, जो सुल्तान की बहन के लड़के थे, ने भी विद्रोह कर दिये परन्तु हार गये और बन्दी बना लिये गये। दिल्ली में ही एक अन्य विद्रोह दिल्ली

के स्वर्गीय *कोतवाल अमीर-उल-उमरा* फखरूद्दीन के दास हाजी मौला ने कर दिया। उलुग खान को विद्रोह दबाने के लिए भेजा गया। विद्रोहियों तथा उनके परिवारों को कड़ा दण्ड मिला तथा विद्रोह दबा दिया गया।

रणथम्भौर के किले पर, देर से ही सही, मिली विजय से अलाउद्दीन के मन में यह बात बैठ गयी कि यदि उनसे एक के बाद एक करके निपटा जाये तो बड़े से बड़ा शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य भी जीता जा सकता है। जब इस्लाम की सेनाओं के विरुद्ध रणथम्भौर के चौहान जान की बाजी लगाये हुए थे उस समय चित्तौड़ सहित अन्य राजपूतों के राज्य क्या कर रहे थे? कोई भी उनकी सहायता करने नहीं आया बल्कि वे अपने सहयोगियों से ही आपस में लड़ते रहे। उनमें सामूहिक सुरक्षा की भावना तथा आत्म-रक्षा का अभाव था। वे अपनी संकीर्ण मानसिकताओं और आपसी फूट के कारण किसी बाहरी शक्ति के आक्रमण से सामूहिक रूप से लड़ने में अक्षम थे। इसी कारण वे अलाउद्दीन की सेना द्वारा एक-एक करके हरा दिये गये[60]।

जनवरी 1303 में अलाउद्दीन ने राजपूताने के शक्तिशाली राज्य चित्तौड़[61] पर आक्रमण कर दिया। वहाँ का युवा शासक राणा सिंह अपने पिता अमर सिंह की मृत्यु के बाद 1301 में गद्दी पर बैठा था। उसका सम्बन्ध गुहिलोत या गुहिला वंश से था जो मेवाड़ में आठवीं सदी से ही रह रहे थे। उन्होंने अरबों द्वारा सिन्ध पर आक्रमण के समय से ही अन्य अनेक आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया था। राणा जैल सिंह के दादा रतन सिंह ने 1213-33 में इल्तुतमिश के आक्रमण को विफल किया था। ऐसा कहा जाता है कि चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण करने का एक उद्देश्य राणा रतन सिंह की अद्वितीय सुन्दरी रानी पद्मिनी को प्राप्त करना था। घेरा नौ माह तक रहा। अन्ततः सुल्तान ने सफलता प्राप्त करने के लिए कपटपूर्ण नीति का सहारा लिया। राणा को अलाउद्दीन के सैनिकों ने बन्दी बना दिया परन्तु गोरा और बादल की अगुवाई में राजपूतों ने राणा को छुड़ा लिया[62]। इसके बाद खूनी संघर्ष में राजपूतों का प्रतिरोध समाप्त हो गया। रतन सिंह युद्ध में लड़ते हुए मारा गया जबकि रानी पद्मिनी ने अन्य महिलाओं के साथ आग में जलकर जौहर किया[63]। राजपूतों से घनघोर युद्ध से क्रुद्ध अलाउद्दीन ने किला जीतने के बाद चित्तौड़ की जनता के सामूहिक कत्लेआम का आदेश दिया। परिणामतः एक ही दिन में 30,000 राजपूत औरतें, बच्चे और पुरुष मार डाले गये[64]। अलाउद्दीन ने अपने 7 या 8 वर्षीय सबसे बड़े पुत्र खिज्र खाँ को वहाँ का गवर्नर बना दिया तथा उस का नाम खिज्राबाद रख दिया। यहीं पर खिज्र खाँ को दिल्ली का उत्तराधिकारी घोषित किया गया।

किले की रक्षा सेना कर रही थी जो राजकुमार की तरफ से थी। जो राजपूत अपनी कोई स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं कर सके, वे पहाड़ियों में चले गये और गुरिल्ला रणनीति से उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयास करते रहे। खिज्र खाँ ने 1311 में चित्तौड़ को रतन सिंह के एक सम्बन्धी मालदेव को सौंप दिया। मेवाड़ के राजपूत उसको अपना शासक नहीं मान सके तथा राणा रतन सिंह के पुत्र हमीर ने उसे 1318 में गद्दी से हटा दिया। इस प्रकार अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद दो वर्षों में ही चित्तौड़ दिल्ली से स्वतन्त्र हो गया।

रणथम्भौर तथा चित्तौड़ की विजय के बाद राजपूतों की रीढ़ टूट गयी। इससे राजपूताना तथा मध्य भारत के अन्य राजा हतोत्साह हो गये। अलाउद्दीन ने 1305 में अइनुल मुल्क मुल्तानी को 10,000 सैनिकों के साथ मालवा की विजय के लिए भेजा। यहाँ के शासक महलक देव तथा उसका भाई तथा मन्त्री कोका प्रधान उसे रोकने में असफल रहे। अन्ततः वे मार डाले गये। मालवा के सभी महत्वपूर्ण शहर उज्जैन, धार, माण्डू और चन्देरी अइनुल मुल्क ने जीत लिये तथा सुल्तान ने उसे वहाँ का गवर्नर बना दिया। 1308 में अलाउद्दीन ने दिल्ली से 100 मील दूर घने जंगलों में स्थितं सवाना किले पर आक्रमण किया तथा वहाँ का बारमेड़ राजपूत शासक शीतलदेव मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को सवाना का इक्तेदार बनाया गया।

उत्तरी भारत में अलाउद्दीन का अन्तिम महत्वपूर्ण अभियान जालौर पर था। वहाँ के चौहान शासक कन्हड़देव ने दिल्ली की अधीनता 1304 में स्वीकार कर ली थी परन्तु अलाउद्दीन उसके व्यवहार से अप्रसन्न था, वह राजपूत परिवार को ध्वस्त करके उसकी प्रमुखता समाप्त करना चाहता था। अतः उसने 1311 में गुल वहिश्त नामक दासी से उत्पन्न दोगरी सन्तान मलिक शाहीन के नेतृत्व में जालौर पर चढ़ाई करने के लिए सेना भेजी। उसकी माँ भी उसके साथ युद्ध में गयी। गुल बहिश्त ज्वर आने से रास्ते में मर गयी जबकि शाहीन राजपूतों से युद्ध करते हुए मारा गया। अन्ततः कमालुद्दीन गुर्ग ने किले को जीत लिया तथा वहाँ का गवर्नर बन गया। 1311 में अलाउद्दीन द्वारा बनाया गया कठपुतली राजा मालदेव जालौर के राजा कन्हड़रदेव का भाई था तथा चित्तौड़ के राजपरिवार से सम्बन्धित था। उसने अपने परिवार से अलग होकर किले पर जीत हासिल करने में अलाउद्दीन की सेना की सहायता की इसलिए उसे चित्तौड़ का किला इनाम के रूप में मिला। इस प्रकार अलाउद्दीन 1311 में उत्तरी भारत का निष्कंटक शासक बन गया।

किन्तु राजपूताना पर अलाउद्दीन की विजय निर्णयात्मक या स्थायी सिद्ध

नहीं हुई। सूखी पहाड़ियों तथा घने जंगलों से युक्त राजपूताना का क्षेत्र विजय के रास्ते में प्रमुख बाधा था। आदमियों तथा सैन्य खर्चों के रूप में ये जीतें काफी महँगी पड़ीं। इसके अलावा अपने क्षेत्र में राजपूत बड़ी वीरता से लड़े क्योंकि उनके लिए स्वतन्त्रता (स्वाधीनता) सर्वोपरि थी। अपनी निर्दयता से उनको कुचलने की कोशिश करके अलाउद्दीन ने बड़ी गलती की। हारे हुए राजपूत प्रमुखों तथा सिपाहियों के विरुद्ध निर्दयतापूर्ण व्यवहार तथा धार्मिक भावनाओं पर चोट करने से समूचा राजपूत समुदाय उसके विरुद्ध हो गया। उन्हें स्वाधीनता की क्षति तथा वंशानुगत शासन की समाप्ति सह्य न थी। उन्होंने विजेताओं का विरोध करना आरम्भ कर दिया। चित्तौड़ की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया जो लम्बे समय से अलाउद्दीन की सेनाओं के हाथ में था। यदि अलाउद्दीन ने राजपूत जनता के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया होता, जैसा कि बाद में अकबर ने किया, तो राजपूत रणथम्भौर तथा चित्तौड़ की हार के बाद उसके स्वामित्व को स्वीकार कर लिये होते। अलाउद्दीन लोगों का विश्वास जीतने में असफल रहा इसलिए राजपूताना पर उसकी विजय लम्बे समय तक नहीं रह पाई। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद सारे राज्य स्वतन्त्र हो गये। राजपूतों का दुर्भाग्य यह रहा कि वे मुहम्मद गोरी के आक्रमण से लेकर अब तक की सारी घटनाओं से कुछ सबक नहीं ले पाये बल्कि सब कुछ भूल गये। उनका बाहरी सेनाओं के सामने वैसा ही संकीर्ण व्यवहार बना रहा। अलग-अलग प्रयास से प्रचुर मूंल्य चुकाने पर ही पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकी। सहयोग के अभाव में उनका प्रयास तुच्छ ही साबित हुआ।

दक्कन की विजय (1307-13) : देवगिरी की विजय से प्राप्त अकुत सम्पत्ति से अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। अलाउद्दीन के लिए देवगिरी उन चालीस चोरों के लिए खजाने का द्वार था जिसमें वह अलीबाबा की भूमिका निभाने को उत्सुक था। लेखक के विचार से अलाउद्दीन दक्षिण विजय के स्वप्न देखा करता था जिससे वह महत्वाकांक्षी और साहसी युवक एक साम्राज्यवादी बन गया तथा राजपूताना और मध्य भारत की विजय से दिल्ली और विन्ध्य के बीच की खाई भी पट गयी। दक्कन की विजय का विचार सिंहासन पर बैठते समय ही उसके मन में आ चुका था। इसलिए उत्तरी भारत के विजय अभियान के समय वह दक्षिण भारत में होने वाली राजनैतिक गतिविधियों पर भी दृष्टि टिकाये रहा। दक्कन पर विजय से बहुत पहले ही उसने दक्षिण की धरातलीय बनावट, मुख्य शहरों में जाने के रास्ते, सैन्य शक्ति, खजाने आदि के बारे में जान लिया था। देवगिरी के यादव शासक रामचन्द्र देव के अतिरिक्त तीन अन्य

मुख्य राजा थे - वारंगल (तैलंगाना) का प्रतापरूद्र देव द्वितीय (काकातिय वंश), द्वारसमुद्र के होयसल वंश का वीर बलाल तृतीय तथा मदुरा का कुलशेखर पाण्ड्य। ये शासक भी उत्तरी भारत के राजपूत राजाओं की तरह आपसी फूट के शिकार थे। वे हमेशा अपने पड़ोसियों से आपस में लड़ते रहते तथा युद्ध करते रहते थे। इसलिए उनको एक-एक करके हराना कठिन नहीं था। रणथम्भौर (1301 ई0) पर विजय के बाद उलुग खान ने तेलंगाना तथा मालाबार विजय के लिए योजना बनाई परन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह योजना छोड़ दी गयी[65]। 1303 ई0 में जब अलाउद्दीन चित्तौड़ पर चढ़ाई किये हुए था उसी समय उसने कारा की सेना को बंगाल तथा उड़ीसा की ओर से आक्रमण करने का निर्देश दिया। यह अभियान असफल रहा। सेना सम्भवत: वारंगल की सेना से हार गयी। 1305 तक मालवा और राजपूताना को जीत लिया गया था। दक्षिण जाने के सभी रास्ते दिल्ली के कब्जे में थे, मंगोल आक्रमणों को कठोरता से पछाड़ दिया गया। अलाउद्दीन की 4,75,000 की पूर्ण सुसज्जित सेना को नियन्त्रण में रखने के लिए उसका उचित ढंग से उपयोग होना था। 1306-7 में लिए गए कुछ महत्वपूर्ण क़दमों से दक्कन को जीतने में सहायता मिली। बड़े पैमाने पर विस्तार, धन के रूप में सैनिकों का तनख्वाह देने से सोने और चाँदी की माँग बढ़ गयी, दक्षिण से मूल्यवान धातुएँ पाने की इच्छा बलवती हो चुकी थी ताकि राज्य के खजाने को भरा जा सके और युद्ध की मशीनरी को तेल मिल सके। इन सभी कारणों के साथ कुछ उल्लेखनीय बहाने जुड़ गये। 1296 के किये गये समझौते के अनुसार रामदेव अलाउद्दीन खिलजी को कर देने में असफल रहा। इसके अलावा उसने गुजरात के भगोड़े शासक कर्ण देव को शरण दी थी जो इलिचपुर में रखा गया था जो पुराने समझौते के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी का था। इसके अलावा अलाउद्दीन की मलिका-ए-जहाँ कमला देवी ने अपने पूर्व पति से अपनी पुत्री देवलरानी (या देवी) को पाने की इच्छा व्यक्त की। 1297 में जब अलाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया था उस समय वह छ: माह की बच्ची थी। तब उसका पिता उसे बचा कर दक्षिण लेकर चला गया था।

अलाउद्दीन खिलजी ने उत्तर पश्चिमी सीमाओं से अतिरिक्त सैनिकों को बुला लिया तथा मलिक काफूर, जो उस समय मलिक नायब (उप सुल्तान) था, के नेतृत्व में एक दक्कन सेना का गठन किया। उसे अलाउद्दीन के नियन्त्रण में पूरे दक्षिण भारत को जीतने का निर्देश दिया गया। उसने 1307 में 30,000 सैनिकों के साथ देवगिरी पर आक्रमण किया। इस कार्य में मालवा के गवर्नर अइनुल मुल्क तथा गुजरात के गवर्नर अल्पखान ने सहायता की। कर्णदेव हार

गया और इलिचपुर से भगा दिया गया। उसकी पुत्री देवलरानी एलोरा गुफाओं के निकट अल्पखान के सैनिकों के हाथ पड़ गयी[66]। उसे दिल्ली लाकर कुछ वर्षों बाद उसका विवाह खिज्र खाँ से कर दिया गया। रामचन्द्र देव भी हार गय तथा उसने सन्धि कर ली। उसे और उसकी पत्नियों तथा बच्चों को सुल्तान के पास दिल्ली भेज दिया गया। अलाउद्दीन ने उसका वहाँ बहुत आदर किया। राजा ने अपनी एक पुत्री[67] सुल्तान को दे दी और दिल्ली में लगभग छः माह तक शाही अतिथि के रूप में रहा। दिल्ली के सुल्तानों ने बड़ी संख्या में हिन्दू राजकुमारियों को रानियाँ बनाया परन्तु यह अपवाद स्वरूप था जिसमें दोनों पक्षों की सहमति से शादी-विवाह हुए। सुल्तान ने रामचन्द्र देव के साथ श्वसुर जैसा व्यवहार किया। अलाउद्दीन ने उसे एक लाख सोने के सिक्के भेंट स्वरूप दिये तथा राय रैया (राजाओं का राजा) की उपाधि दी। बरनी के अनुसार, राय तब से आज्ञापालक बना रहा और मृत्युपर्यन्त सुल्तान को नियमित रूप से कर देता रहा[68]। उसने दक्षिण भारत के अभियान के समय सुल्तान की सेना के साथ पूरा सहयोग किया। दिल्ली और देवगिरी के बीच वैवाहिक सम्बन्धों से सारे धार्मिक अवरोध समाप्त हो गये। रामचन्द्र देव भारत की शाही शक्ति का अभिन्न अंग बन गया तथा दक्षिण भारत में साम्राज्य फैलाने में उसने अलाउद्दीन की बहुत सहायता की। साम्प्रदायिक भाव रखने वाले आलोचकों ने इस सम्बन्ध की व्याख्या दूसरे ढंग से की है। ऐसा माना जाता है कि रामचन्द्रदेव के प्रति अलाउद्दीन की नीति राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में थी। एक चतुर कूटनीतिज्ञ की तरह उसने यादवों को जीतकर उन्हें अपने आक्रमण को सफल बनाने के यन्त्र के रूप में उपयोग किया। कुछ आलोचकों के अनुसार, रामचन्द्र देव एक कायर शासक था जिसने अपना सिंहासन बचाने के लिए अपनी स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा तथा आत्मसम्मान के साथ समझौता कर लिया। यही नहीं, उसने निर्लज्जतापूर्वक सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को रौंदे जाने में सहायता की। रामचन्द्रदेव ने अपने लोगों को नीचा दिखाया, अपने धर्म को समाप्त होने दिया, अपने समाज तथा संस्कृति को बहुत हानि पहुँचाई। उसके कायरतापूर्ण कार्यों से दक्षिण भारत के हिन्दुओं पर, विशेषकर हिन्दू राजाओं पर, हतोत्साह करने वाला प्रभाव पड़ा।

नवम्बर 1309 में मलिक काफूर कुछ महत्वपूर्ण सैन्य अधिकारियों, *अर्ज-ए-मुमालिक* के साथ, अनुमानतः एक लाख की सेना लेकर वारंगल पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हुआ। उप सुल्तान (मलिक नायब) होने के कारण उसे लाल छतरी[69] मिली थी तथा अमीरों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति मिली थी। तेलंगाना को अपने में मिलाने हेतु अलाउद्दीन खिलजी द्वारा की गयी सभी

असाधारण व्यवस्थाओं और सावधानियों के प्रकाश में हम अनुमान कर सकते हैं कि वारंगल के राय प्रताप रूद्र देव[70] की सैन्य शक्ति कितनी रही होगी जिसने प्रथम सही आक्रमण का सामना किया। अलाउद्दीन ने शत्रु को न तो कम करके आँका और न ही उसे अपनी सेना की निश्चित जीत की आशा थी, इसीलिए उसने मलिक काफूर को सलाह दी कि राजा को बहुत अधिक न दबाए। काफूर से यह आशा की गई थी कि वह कम-से-कम समय में तेलंगाना के शासक से समझौता कर ले जिससे राय लड्डार देव (प्रताप रूद्र देव द्वितीय) उससे बाजी न मार ले जाए[71]। यदि राय अपना खजाना, हाथी और घोड़े सौंप दे तथा आने वाले वर्ष (वर्षों नहीं)[72] में खजाना और हाथियों को भेज दे तो भी पर्याप्त होगा। सुल्तान ने मलिक नायब को यह भी सलाह दी कि यदि वह इन उद्देश्यों को पूरा न कर सके तो अपने नाम और प्रसिद्धि के लिए उसे अपनी कूटनीति या शक्ति से राय को दिल्ली आने के लिए राजी कर ले। मलिक काफूर को सेना का पूर्ण नियन्त्रण करना था तथा अपने कठोर व्यवहारों या लूट का पाँचवाँ भाग लेने के लिए दबाव डाल कर सेना को नाराज होने से बचाना भी था[73]।

शाही सेना देवगिरी की ओर से गयी तथा रामचन्द्र देव ने हर प्रकार का सहयोग दिया। उसने मलिक काफूर और अन्य सामन्तों का भव्य स्वागत किया, जानवरों को चारा दिया तथा सैनिकों के लिए भी व्यवस्था की। जब सेना उसकी सीमा से गुजर रही थी तो उसने आक्रमणकारी की सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखा, उसने अपने व्यापारियों को आदेश दिया कि वे सेना के सभी रास्तों पर बाजार लगायें तथा उसी दर पर सारे सामानों की बिक्री करें जैसा कि सुल्तान ने अपने राज्य में निर्धारित कर रखा है[74]। रामचन्द्र देव ने रास्ते में अपने स्काउट (स्वयंसेवक) लगा रखे थे जो वारंगल जाने के लिए सेना को रास्ता दिखा रहे थे।

जैसे ही मलिक काफूर तेलंगाना की सीमा पर पहुँचा, उसने आगजनी तथा कत्लेआम करने का आदेश दिया। फरिश्ता के अनुसार, इससे वहाँ के निवासी चकित हो गये जिन्होंने अपने मर्यादाहीन शत्रुओं को कभी चोट तक नहीं पहुँचाई थी[75]। आक्रमणकारियों को सिरपुर के किले पर एक हिन्दू सेना की छोटी टुकड़ी के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। इसके सभी रंक्षक लड़ाई में मारे गये और औरतों और बच्चों ने आग में जलकर जौहर किया। अनेक हिन्दू सामन्त (रावत) आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्रतिरोध करने के बजाय वारंगल भाग गये। इस तरह अपने प्रमुख रामचन्द्र देव की शक्ति में वृद्धि करके दुहरी दीवाल और घिरे किले के भीतर से रक्षात्मक लड़ाई लड़ने के उद्देश्य से जा मिले किन्तु शाही सेना ने

शीघ्र ही इसे जीत लिया। कुछ रावतों ने, जो किले के बाहर छूट गये थे, अपने मालिक की सहायता की। उन्होंने शाही रसद को रोक दिया और डाकसेवा भी रोक दी जिससे लगभग छः हफ्ते तक युद्ध सीमा से सुल्तान को कोई खबर नहीं मिली[76]। हिन्दू गुरिल्लाओं ने उन पर रात में आक्रमण करके अनेक कष्ट पहुँचाये। इससे शाही सेना की रक्षा के लिए एक बहुत बड़ी लकड़ी की दीवाल (कठघरा) खड़ी करना आवश्यक हो गया। एक संक्षिप्त परन्तु भीषण युद्ध के बाद शाही सेना ने मिट्टी से बने वारंगल के बाहरी किले के भीतरी रक्षक को हराते हुए जीत लिया। संकट में फँसे राय ने सन्धि कर ली और उसे जानकर यह सन्तोष हुआ कि आक्रमणकारियों को खरीदा भी जा सकता था। उसने 100 हाथियों[77], 7000 घोड़ों तथा सोने, चाँदी तथा जवाहरातों से भरा खजाना, जिसमें जौहर-कोह-ए-नूर (विश्व में अद्वितीय)[78] भी शामिल था, दे दिया। राय ने काफूर से भेंट नहीं की किन्तु उसने सोने से बनी अपनी आदमकद मूर्ति भेजी जिसके गले में सोने की जंजीर थी। साथ ही उसने लिखित रूप से शाही दरबार में सालाना कर जमा करने का वचन भी था। काफूर लूट के माल के साथ 11 जून 1310 को दिल्ली लौट आया जिससे अलाउद्दीन बहुत प्रसन्न हुआ[79]।

वारंगल पर सुगम विजय से अलाउद्दीन बिना समय नष्ट किये पूरे दक्षिण क्षेत्र को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए बेताब हो उठा। मलिक काफूर इस तरह के अभियानों में अपने मालिक से भी अधिक उत्साही था। वारंगल से लौटने के चार माह बाद ही वह अपने तीसरे अभियान के लिए तैयार था। प्रसन्नचित सिपाही 'इस्लाम की सेना' में काफिरों के विरुद्ध जेहाद के लिए अपना नाम लिखवाना चाहते थे। 'इस्लाम' और 'जेहाद' जैसे शब्द किसी विशेष कारण से प्रयुक्त किये जाते थे परन्तु सुल्तान से लेकर एक अदना तक लूटपाट की चकाचौंध से ललचाये थे। यह अभियान मूलतः द्वारसमुद्र पर विजय के लिए था परन्तु इसके निर्देश केवल सुल्तान ने तैयार किये थे। मलिक काफूर को इसमें पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गयी थी कि वह जैसा उपयुक्त समझे वैसा ही करे। सेना लाल छाता ताने मलिक काफूर के साथ राजधानी से नवम्बर 1310 में चली तथा दक्षिण की तरफ प्रस्थान करने के पूर्व यमुना के किनारे लगभग दो हफ्ते तक सेना का पुनरीक्षण किया गया। रामचन्द्र देव ने 3 फरवरी 1311 को शाही सेना का स्वागत किया तथा हमेशा की तरह सारी सुविधायें दीं जिससे सेना द्वारसमुद्र पहुँच सके[80]। शाही सेना को 10 हजार की टुकड़ियों में तथा हर टुकड़ी को कई इकाइयों में बाँटा गया था ताकि सेना अलग-अलग दिशाओं से शीघ्र पहुँच सके तथा आक्रमण प्रभावी हो सके। थोड़ा-सा प्रतिरोध करने के बाद होयसल राजा वीर बल्लाल

तृतीय भयभीत हो उठा और उसने हाथी, घोड़ों तथा खजाने सहित आत्मसमर्पण कर दिया। उसने सालाना कर देने का भी वचन दिया।

द्वारसमुद्र में ही मलिक काफूर को पता चला कि वे सुदूर दक्षिण के दो पाण्ड्य राजकुमारों में भ्रातृघाती युद्ध छिड़ा हुआ है। मदुरा का पांड्य राजा कुलशेखर अपने बड़े असली पुत्र वीर पाण्ड्य का पक्ष ले रहा था जिससे उसका छोटा पुत्र सुन्दर पाण्ड्य उससे ईर्ष्या करता था। सुन्दर पाण्ड्य ने क्रोध में आकर अपने पिता को मारकर सिंहासन पर अपना दावा जताया लेकिन वीर पाण्ड्य ने उसे मदुरा से बाहर निकाल दिया। इस तरह संकटग्रस्त सुन्दर पाण्ड्य ने द्वारसमुद्र में डेरा डाले मलिक काफूर से सहायता माँगी। इससे मलिक काफूर को दक्षिण की ओर जाने का एक स्वर्णिम अवसर मिल गया। इस कार्य में वीर बल्लाल तृतीय ने भी पूरी सहायता की। शाही सेना के पहुँचने पर वीर पाण्ड्य भाग गया। शाही सेना ने उसकी खोज में पूरे पाण्ड्य साम्राज्य को रौंद डाला तथा रास्ते में पड़ने वाले सभी शहरों और मन्दिरों को बुरी तरह से लूटा। अपनी गलती का ध्यान आने पर सुन्दर पाण्ड्य भी शाही सेना छोड़कर जंगलों में भाग गया। फरिश्ता के अनुसार, मलिक काफूर रामेश्वरम पहुँचा जहाँ उसने इस्लाम की विजय के रूप में एक मस्जिद का निर्माण कराया। राजनीतिक रूप से यह अभियान असफल रहा क्योंकि दोनों पाण्ड्य राजकुमारों में से किसी ने भी औपचारिक आत्मसमर्पण नहीं किया और न ही मदुरा राज्य पर अलाउद्दीन का प्रभुत्व माना गया। यद्यपि सम्पत्ति अर्जित करने की दृष्टि से यह अभियान लाभप्रद रहा। मलिक काफूर 18 अक्टूबर 1311 को 612 हाथियों, 96000 मन सोना 20000 घोड़े और कई पिटारियाँ रत्न तथा मोती[81] लेकर दिल्ली लौटा। अमीर खुसरो रत्नों का वजन 500 मन बताता है। वास्तव में द्वारसमुद्र तथा मदुरा से मिले लूट के माल का मूल्य वर्णनातीत तथा अनुमान से परे था। इसके सामने अलाउद्दीन द्वारा दीर्घ तक चलाये गये अभियान और देवगिरी पर आक्रमण से प्राप्त खजाने नगण्य थे। इससे सम्भवतः मुहम्मद गजनी की चिन्तामग्न आँखें कब्र में भी चमक उठी होंगी[82]। वीर बल्लाल तृतीय भी मलिक काफूर के साथ दिल्ली आया जहाँ अलाउद्दीन ने उसका शाही स्वागत किया। रामचन्द्र देव के बाद वह सल्तनत के लिए दूसरा बहुत ही उपयोगी और आज्ञाकारी गुलाम सिद्ध हुआ।

मलिक काफूर ने अपनी हर वस्तु अलाउद्दीन के लिए दे रखी थी। दक्षिण में वीरतापूर्ण कार्यों से वह सुल्तान के बाद सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व बनकर उभरा। वह अपने स्वामी के लिए राज्य के सभी मामलों में अपरिहार्य बन गया और जीवन भर स्वामी का विश्वासपात्र बना रहा।

रामचन्द्र देव ने 1312 ई0 के आरम्भ में खिज्र खाँ के साथ देवल रानी के विवाह में भाग लिया तथा देवगिरी लौटने पर उसकी मृत्यु हो गयी। तब उसके बाद उसका पुत्र सिंहनदेव (या शंकर देव) गद्दी पर बैठा। उसने कभी भी अपने पिता की तरह शाही दरबार के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं किया। उसने वार्षिक कर देना बन्द कर दिया तथा एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करने लगा। इससे 1312 में मलिक काफूर से पुनः दूसरा अभियान छेड़ा। सिंहनदेव हार गया और मार डाला गया। देवगिरी को दिल्ली में मिला लिया गया। मलिक काफूर ने देवगिरी में अपना मुख्यालय स्थापित किया तथा उसमें आस-पास के तेलंगाना तथा द्वारसमुद्र के क्षेत्रों को भी मिला लिया ताकि उनके प्रमुखों को वश में रखा जा सके। ऐसा लगता है कि मलिक काफूर की प्रतिष्ठा और शक्ति से ईर्ष्या करने के कारण अन्य अमीर उत्तेजित हो उठे और दरबार में उसके हस्तक्षेप का विरोध करने लगे। मलिका-ए-जहाँ कमला देवी तथा उसकी पुत्री देवलरानी को मिलाने वाले अल्प खान इसमें प्रमुख था। युवराज खिज्र खाँ उसका परिपोषक था। एक परिवर्तित हिन्दू तथा किसी वंश से सम्बन्ध न होने के कारण पुराने खिलजी वंश में उसका स्थायित्व नहीं था। दरबार में सत्ता और शक्ति की लम्बी दौड़ में उसका कोई स्थान नहीं था। शायद इसीलिए दिल्ली से दूर दक्षिण में उसने अपनी शक्ति का केन्द्र स्थापित करने का तथा अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद, यदि हो सके तो, एक स्वतन्त्र शासक के रूप में रहने का विचार किया यद्यपि सुल्तान उसके साथ न रहने से बहुत परेशान रहा। साथ ही, उसने काफूर की दक्षिण नीति का विरोध किया। सुल्तान के जोर देने पर काफूर ने यादव वंश के राजकुमार हरपाल देव को देवगिरी राज्य का भार सौंप दिया तथा 1315 में दिल्ली लौट आया। अलाउद्दीन की चाल पूर्णतया सफल रही। उसकी साम्राज्यवादिता के दो पहलू थे - पहला अन्य क्षेत्रों को जीतकर उन पर अपना नागरिक प्रशासन स्थापित करना तथा दूसरा दक्षिण भारत पर आक्रमण करके अकूत सम्पत्ति लाना। वहाँ वह हिन्दू राजाओं द्वारा उसकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने से तुष्ट था। इस प्रकार वह दूर स्थित सीमाओं पर नागरिक शासन स्थापित करने से बचता रहा और उसने उन लोगों से टक्कर भी न ली। क्षेत्रीय शासक, चाहे अच्छे हों या बुरे, उन्हें अपनी राह चलने दिया। उन दिनों संचार और यातायात के साधन बहुत खराब थे इसीलिए सुदूर क्षेत्रों को सम्मिलित करना सरकार के लिए अनेक समस्याएँ उत्पन्न करता था तथा आम लागों में विद्रोह या दुराव की भावना पैदा कर सकता था। अलाउद्दीन ने इन सबसे अपने को बचाया तथा उसकी दक्षिण नीति बुद्धि और दूरदर्शिता पर आधारित थी।

सन् 1311 तक अलाउद्दीन के राज्य की सीमा चरम सीमा को प्राप्त कर

चुकी थी। यह उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में सिन्धु से लेकर पूर्व में बिहार तथा उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर दूर दक्षिण में रामेश्वरम तक थी। उत्तर में उसका साम्राज्य मध्य पंजाब और सिन्धु गंगा की घाटी (उ0प्र0) राजपूताना, मालवा, गुजरात तक था। नर्मदा के दक्षिण दक्कन महाद्वीप उसके अधीनस्थ राजाओं के शासन में था किन्तु बिहार, बंगाल और उड़ीसा उसके साम्राज्य के भाग न थे।

मंगोलों से मुठभेड़

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम 1220-21 में मंगोल उत्तर पश्चिमी सीमाओं में दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश के समय में चंगेज खान (1154-1226) के नेतृत्व में आये थे। यद्यपि चंगेज के आक्रमण से देश किसी प्रकार बच गया। लेकिन मध्य एशिया, फारस और अफगानिस्तान में फैले होने के कारण प्रायः वे भारत पर आघात करते रहते थे तथा दिल्ली सल्तनत पर खतरा बना रहता था। इस्लाम में आने से पहले मंगोलों ने अन्धविश्वासों से जुड़े कुछ बौद्ध धर्म को भी ग्रहण किया। आरम्भ में वे मुसलमानों के कट्टर शत्रु थे। उन्होंने पहले ही मध्य तथा पश्चिमी एशिया के मुस्लिम राज्यों को कुचल दिया था। वे जहाँ भी जाते थे वहीं विनाश करते थे और भेड़ों और बकरियों की तरह लोगों को मौत के घाट उतार देते थे। भारतीय सीमाओं पर उनके आने से उत्तरी भारत में डर की लहर दौड़ गयी और दिल्ली की नई सल्तनत को खतरा उत्पन्न हो गया।

चंगेज खान के पोते हलाकू खान ने फारस में इल्खान मंगोल नामक शासक परिवार की स्थापना की। उनके सेनानायक ने जलालुद्दीन खिलजी के समय दिल्ली पर आक्रमण किया था। जिस समय अलाउद्दीन सिंहासन पर बैठा, उसी समय ट्रान्सोक्सियाना का चुगताई शासक दव खान (1272-1306) अन्य मंगोल प्रमुखों के बीच शीर्ष पर था। उसने इल्खानों से अफगानिस्तान छीन लिया तथा भारत की ओर ललचाई आँखों से देख रहा था। जब उसने जलालुद्दीन की हत्या के बारे में सुना तो उसने भारत पर आक्रमण करने का दृढ़ निश्चय किया। वह चाहता था कि लुटेरा अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली में अपनी स्थिति मजबूत न कर पावे अतः उसके हाथ से दिल्ली को छीनने के लिए उसने एक-एक करके छः आक्रमण किये। अलाउद्दीन ने चुनौती स्वीकार की तथा मंगोल सेनाओं को भारी नुकसान पहुँचाते हुए उनकी योजनाएँ ध्वस्त कर दीं।

पहला मंगोल आक्रमण अलाउद्दीन के गद्दी पर बैठने के तुरन्त बाद हुआ। कादर खान के नेतृत्व में मंगोल लुटेरों के 10 तुमनों[33] ने (1296-97) सिन्ध

नदी पार करके सिन्ध तथा पंजाब में आगजनी और कत्ल किया तथा लाहौर पर कब्जा कर लिया। जफर खान और उलुग खान ने उनको आगे जालन्धर के दोआब में बढ़ने से रोका तथा उन्हें करारी हार दी। इस खूनी संघर्ष में लगभग 20,000 मंगोल हताहत हुए, सैकड़ों औरतों और बच्चों को पकड़ लिया गया तथा बाद में उनके सिर काट लिये गये।

द्वितीय मंगोल आक्रमण सल्दी द्वारा सन् 1228 में किया गया। उसने सिन्ध को रौंद डाला तथा सिवीस्तान (शायद सेहवान) पर कब्जा करके उसे अपना मुख्यालय बनाया। जफर खान ने किले पर अचानक आक्रमण करके मंगोलों से किला छीन लिया जिसमें कुल्हाड़ी, तलवार, भाले और बर्छियों से लड़ाई हुई। पूरी मंगोल सेना इस संघर्ष में नष्ट हो गयी। सल्दी और उसके साथियों के साथ औरतों और बच्चों को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। बरनी लिखते हैं-

> "इस जीत से हर दिल में जफर खान के लिए सम्मान की भावना उत्पन्न हो गयी और सुल्तान भी उसकी निर्भयता, सेनापतित्व और शूरता के लिए कुटिल दृष्टि से देखने लगा, ऐसा लगता था जैसे भारत में कोई रुस्तम पैदा हो गया हो।"[84]

जफर खान को पंजाब में समाना नामक एक महत्वपूर्ण सैन्य स्थल सौंप दिया गया ताकि मंगोलों से रक्षा हो सके। बरनी ने सुल्तान अलाउद्दीन तथा उसके भाई उलुग खान की जफर खान के प्रति भावना के विषय में टिप्पणी करते हुए कहा है, जफर खान से उसके वीरतापूर्ण कार्यों और स्वामिभक्ति से प्रसन्न होने के बजाय सुल्तान और उसका भाई 'उससे घृणा और ईर्ष्या करने लगे'[85] क्योंकि वह अपने सैनिकों में एक नायक के रूप में प्रसिद्ध हो गया था।[86] भाग्यवश तीसरी बार उत्तरी पश्चिमी सीमा पर 1299 ई0 के अन्त में मंगोल टिड्डी दल की भाँति प्रकट हुए। मध्यकालीन इतिहासकारों के अनुसार उनकी संख्या करीब दो लाख (बीस तुमन) थी जिनका नेतृत्व देव खान का युवा पुत्र कुतुलुग ख्वाजा कर रहा था। वे सिन्धु नदी पार करके पंजाब स्थित सेना की टुकड़ियों से बिना लड़े ही दिल्ली की ओर बढ़ने लगे। उनका उद्देश्य दिल्ली को जीतना तथा सल्तनत को मिटाना था। परेशान अलाउद्दीन ने सभी राज्यों के गवर्नरों को शीघ्र दिल्ली आने का सन्देश भेजा ताकि इसकी रक्षा हो सके। दिल्ली में व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। डरे लोग पडोसी गाँवों से आकर शहर में एकत्र होने लगे और रक्षा के लिए समस्या खड़ी हो गयी[87]। कुछ सलाहकारों ने दिल्ली के किले से ही अलाउद्दीन को रक्षात्मक युद्ध लड़ने की सलाह दी लेकिन अलाउद्दीन ने खुले में उनको चुनौती देना अच्छा समझा। युद्ध के नगाड़ों के साथ वह राजधानी से

निकला और दिल्ली के बाहर करीब छः मील की दूरी पर कीली में उसने अपना पड़ाव डाला। उसके प्रान्तों से आई सैन्य टुकड़ियों के कारण शस्त्र सेना में तीव्रता से काफी वृद्धि हो गयी। युद्ध क्षेत्र में मुख्य सेना की व्यूह रचना की गयी तथा खाई से घेर दिया गया। युद्ध सीमा को कई मील तक फैला दिया गया। जफर खाँ ने दाहिनी कमान और उलुग खान ने बाईं कमान संभाली जबकि स्वयं अलाउद्दीन मध्य में था। युद्ध सीमा के पीछे उलुग खान के नेतृत्व में एक तेज घुड़सवार सेना भी रखी गयी ताकि आपातकाल में उसका उपयोग हो सके। मंगोल देखते ही उन पर टूट पड़े। खूनी संघर्ष में दोनों ओर हजारों मरे। जफर खान शत्रु सेना की सीमा को पार कर गया और 18 कोस तक बिना किसी सहारे अपने ही बल पर मंगोलों को खदेड़ता गया। एक मंगोल नेता तरघी, जिसने अपने तुमुन को छिपा रखा था, मूल शिविर से जफरखान का संबंध काटने दौड़ा। उसने शाही सेना को रास्ते में घेर लिया और उसका कत्ल कर दिया। जफर खान बहादुरी से लड़ते हुए गिर पड़ा। उलुग खान जानता था कि उसका साथी संकट में है फिर भी उसका जीवन बचाने के लिए उसने सेना नहीं भेजी। वास्तव में जफर खान ने दक्षिणी शत्रु सेना का पीछा करके गम्भीर गलती की थी। केन्द्र में उपस्थित सुल्तान ने अपनी सेना को वास्तविक रेखा से आगे जाने की इजाजत नहीं दी थी। जफर खान अत्यधिक उत्साह और भावना में बहकर किसी सहायता के बिना शत्रु का पीछा करता गया और संकट में पड़ गया। इसलिए अलाउद्दीन खिलजी जफर खाँ की मौत के लिए जिम्मेदार नहीं था।

दिल्ली द्वारा कड़े प्रतिरोध से मंगोल हतोत्साह हो गये और उसी रात खैबर दर्रे से वापस लौट गये। कुतुलुग ख्वाजा बीमार पड़ गया और ट्रान्सोक्सियाना जाते समय रास्ते में ही मर गया। अलाउद्दीन खिलजी विजयी होकर दिल्ली लौट आया। जफर खान का जीवन समाप्त हो चुका था[88]। अलाउद्दीन के दरबार में किसी ने भी उसे श्रद्धांजलि नहीं दी यद्यपि मंगोल उसके बहादुरी के कार्यों को बहुत काल तक याद करते रहे[89]।

लगातार तीन पराजयों से मंगोलों को कुछ समय के लिए धक्का लगा! अगले दो वर्षों (1300-02 ई0) में देव खान मध्य एशिया के अन्य क्षेत्रों की लड़ाइयों में व्यस्त रहा। अलाउद्दीन ने इस अवसर का उपयोग अविजित क्षेत्रों को जीतने के लिए तथा सेना को पुनर्संगठित करने तथा मजबूत बनाने के लिए किया। उसने रणथम्भौर को जीता तथा वारंगल पर चढ़ाई की। जिस समय उसे भारतीय सीमाओं पर मंगोलों के आने की सूचना मिली, वह चित्तौड़ (1303) में था। मंगोलों की कुल संख्या 1,20,000 थी तथा उनका नेतृत्व तरघी बेग कर रहा था जिसने तृतीय

मंगोल आक्रमण में एक तुमुन का नेतृत्व किया था तथा जफर खान को मार डाला था। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर घेरा डाले रखा और स्वयं दिल्ली लौटकर तुरन्त तैयारी की परन्तु यह पर्याप्त न थी। मंगोलों ने किले पर घेरा डाल दिया तथा गाँवों और शहरों को लूटा। घेरा चालीस दिनों तक चला और अंतत: अचानक मंगोलों ने अपना खेमा हटाया और वे भारत से चले गये। इससे अलाउद्दीन को कुछ राहत मिली। वास्तव में मंगोल मजबूत किलेबन्दी पर घेरा डालने में कमजोर थे तथा वे उतावले हो उठे थे अत: वे लम्बे समय तक चलने वाले युद्ध में अपनी उत्तेजना नहीं बनाये रख सकते थे। उनका दिल्ली जीतने का तूफानी इरादा दिनों-दिन क्षीण होता गया तथा तरगी बेग ने यह अनुमान लगाया कि शायद उसकी सेना भारतीय सेनाओं द्वारा घिरकर नष्ट कर दी जायेगी जो धीरे धीरे राजधानी के नजदीक आ रही थी। वापस जाने में ही अपना भला दीखा[90]।

भारतीय सेनाओं के हाथों बारम्बार मात खाने से मंगोल हताश नहीं हुए बल्कि उनके मन में बदले की भावना जाग उठी। दो वर्ष बाद (1305 ई0 में) चंगेज खान का वंशज अली वेग और तरगी बेग ने 50,000 मंगोल लेकर भारत में लूटमार एवं विनाश करने के इरादे से आये। उन्होंने मुल्तान को रौंद डाला तथा पंजाब के उर्वर मैदान को पार करते हुए शिवालिक की तलहटी में पहुँचे। तरगी बेग को एक भारतीय रक्षक ने सतलज के किनारे तीर से मार डाला। मंगोल सुरक्षित किलों से बचते हुए भारतीय टुकड़ियों पर ध्यान न देते हुए दूसरे रास्ते से दिल्ली को बचाते हुए यमुना दोआब में फैल गये और लूटमार तथा आगजनी करने लगे।

एक बार जब सुल्तान ने उनके मन्तव्यों को समझ लिया तो उसने उनकी बर्बरता को रोकने की नयी चाल चली। सुल्तान ने स्वयं दिल्ली की रक्षा का भार लिया तथा मलिक काफूर ने एक बड़ी सेना लेकर उनके पीछे भागने के रास्ते को काट दिया तथा मोर्चाबन्दी करके उन्हें एक जगह एकत्र होने के लिए बाध्य कर दिया और अमरोहा के निकट बड़े ही वेग से आक्रमण किया। मंगोल सेना का केन्द्र छिन्न-भिन्न हो गया तथा युद्ध भूमि कत्ल किये गये सैनिकों से मुर्दों के ढेर सी प्रतीत हो रही थी[91]। लगभग 8000 मंगोलों को बन्दी बनाकर दिल्ली की गलियों में घुमाया गया तथा बाद में उन्हें मार डाला गया। अलीबेग तथा तरतक को कुछ समय के लिए जीवन दान दिया गया किन्तु उनके शत्रुतापूर्ण मनोभावों को देखकर उनके सिर काट लिए गये।

मलिक काफूर के द्वारा डाले गये घेरे से बचकर निकलने वालों का भाग्य बहुत ही बुरा हुआ। ग़ाजी मलिक (बाद में गयासुद्दीन तुगलक जो बाद में तुगलक वंश का संस्थापक बना), जो उस समय दीपालपुर का गवर्नर था, ने सुल्तान

के आदेश पर अपनी सेना को सिन्धु की ओर चलाया। उसने छिपकर भागते हुए मंगोलों को पकड़ कर चूहों की तरह मार डाला। फरिश्ता कहते हैं कि -

> "वे मंगोल तलवारों से बचकर, भागते हुए रेगिस्तान में भटक गये थे, जहाँ प्यास और गर्मी थी, जो उनकी मौत का कारण बन गयी।"[92]

वे यह भी कहते हैं -

> "इस युद्ध में बन्दी बनाये गये सभी बच्चों और स्त्रियों को राज्य के विभिन्न भागों में दासों की तरह बाजारों में बेंचे जाने के लिए भेज दिया गया।"[93]

दुर्दम्य मंगोलों ने भारतीय भूमि को पुनः हथियाने का प्रयास किया। इकबाल मन्दा तथा कुबक ने 1306 में 50,000 मंगोल लेकर पुनः आक्रमण कर दिया। यह अलाउद्दीन के काल का छठवाँ और अन्तिम आक्रमण था। मंगोल दो या सम्भ्वतः तीन टुकड़ों में बँट गये तथा तीन व्यक्तियों के नेतृत्व में अलग अलग रास्तों से आगे बढ़े। कुबक लाहौर की ओर से आया जबकि इकबाल मन्दा दक्षिण की ओर से चलते हुए नागौर पहुँचा। मलिक काफूर और गाजी मलिक ने रावी के तट पर कुबक की सेना को नष्ट कर दिया और कुछ हजार मंगोलों के साथ कुबक को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया जहाँ इन्हें प्रताड़ना देकर मार डाला गया[94]। इकबाल मन्दा की सेना नागौर के पास हार गयी और वह सम्भवतः अपने मुट्ठी भर सैनिकों के साथ अफगानिस्तान भाग गया।

भारत में कई वर्षों तक मंगोलों के आने का भय समाप्त हो गया। उन्हें शाही सेनाओं का ऐसा खौफ था कि उनके भारत आने के सारे सपने मनों से धुलकर निकल गये। उल्टे अफगानिस्तान पर भारतीय हमलों से अपनी रक्षा करने के लिए बाध्य हो गये। इन कार्यक्रमों के अगुवा गाजी मलिक ने न केवल उत्तर पश्चिमी सीमाओं की रक्षा की अपितु समय समय पर काबुल तथा गजनी पर आक्रमण करके उसके निवासियों से धन वसूला[96]। मंगोलों को शायद कभी भी इस तरह का अनुभव नहीं हुआ था जैसा सल्तनत की सेनाओं के हाथों हुआ।

अलाउद्दीन खिलजी ने मंगोल आक्रमण को दबाने के लिए बलबन की 'रक्त और लौह' नीति का पालन किया। उसने उत्तर पश्चिमी भारत-पंजाब में समाना, दीपालपुर, लाहौर और मुल्तान और सिन्धु घाटी में सेनाएँ रखकर उसे एक सुरक्षा पट्टी बना दिया। पुराने किलों की मरम्मत की गई, कई नये किलों का निर्माण कराया गया तथा उन्हें शाही रक्षात्मक सेनाओं द्वारा युवक तथा दक्ष सेनापतियों के अन्तर्गत बुरी तरह से घेर दिया गया। सड़कों को चौड़ा किया गया तथा नयी सड़कें बनाकर किलों को एक दूसरे से जोड़ा गया। सीमाओं पर तगड़ी

गुप्तचर व्यवस्था कायम की गयी जिससे सीमा पार पर होने वाली प्रत्येक गतिविधि का समाचार सुल्तान को थोड़े ही समय में मिल सके। सुल्तान का विशेष ध्यान राजधानी की सुरक्षा पर था; दिल्ली के किले की मरम्मत की गयी तथा राजसी महल, खजाना और सचिवालय की सुरक्षा के लिए सिरी में एक नया किला बनाया गया। अलाउद्दीन खिलजी ने मशीनीकृत ध्वंस यन्त्रों सहित उन्नत युद्ध के यन्त्रों और अच्छी नस्ल के घोड़ों से विशाल सेना तैयार की। उसने "जैसे को तैसा" की नीति का पालन करते हुए मंगोलों के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार द्वारा उनके मन में डर भर दिया। उनके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते हुए भारतीयों के मन से मंगोलों का डर निकाल दिया, अपनी सेना का मनोबल बढ़ाया और इस बात का विश्वास दिलाया कि वे मंगोलों से जीत सकते हैं।[97] अलाउद्दीन की सीमा-नीति वैज्ञानिक विधि पर आधारित थी और काफी सफल भी रही। बरनी कहते हैं -

"दिल्ली तथा पड़ोसी राज्यों से मंगोलों का डर पूर्णतया समाप्त हो गया। चारों ओर पूर्ण सुरक्षा थी तथा मंगोलों के रास्ते में पड़ने वाली रैयतों में शान्तिपूर्वक खेती बाड़ी की जा रही थी।"[98]

अलाउद्दीन की वह सेना जो उत्तरी सीमा पर विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध एक प्राचीर बनी हुई थी, बाद में दक्षिण भारतीय राज्यों को जीतने और सल्तनत को शक्तिशाली साम्राज्य बनाने में सहायक सिद्ध हुई। बार-बार मंगोलों के आक्रमण से आक्रान्त भारतीय जनता अपने जीवन की रक्षा के लिए सुल्तान का मुँह जोहती थी। इससे सुल्तान अप्रत्यक्षतः बर्बरतापूर्ण और निरंकुश होता गया। अलाउद्दीन खिलजी अपनी जनता के रक्षक के रूप में प्रकट हुआ तथा लोग उसके आज्ञापालक हो गये तथा उन्होंने उसमें पूर्ण विश्वास व्यक्त किया।

अलाउद्दीन खिलजी के अधीन शासन-तंत्र

प्रशासनिक सुधार

इस्लाम की राजनीति प्राथमिक रूप से फारस की अन्धविश्वासी परम्परा पर आधारित थी। दिल्ली के सुल्तानों[99] का प्रशासनिक तंत्र एक सार्वत्रिक मॉडल था जो भारतीय स्थितियों के अनुकूल था। अलाउद्दीन खिलजी ने मामलुक राजनीति में कोई आमूल परिवर्तन नहीं किया और न ही प्रशासन के क्षेत्र में कोई नवोन्मेष किया, तो भी वह सर्वश्रेष्ठ प्रशासक था। उसने प्रशासनिक मामलों में दिशा निर्देश तय किये तथा गम्भीरता से योजनाएँ बनाईं। उसने सरकार के कार्यात्मक पहलुओं पर ध्यान दिया तथा नौकरियों में अनुशासन कायम करके

अत्यधिक कार्यक्षम बनाया। योग्य तथा कार्यक्षम अधिकारियों को पुरस्कार दिये गये जबकि अयोग्य और अक्षम अधिकारियों को बड़ी निर्दयता से बाहर कर दिया गया। अलाउद्दीन खलजी ने प्रबंधकीय नियंत्रण में परिवर्तन कर मामलूक पदानुक्रम का कायाकल्प कर दिया; दिल्ली के सभी सुल्तानों से सर्वश्रेष्ठ प्रशासक के रूप में यही उसका वास्तविक योगदान था।

मामलुक सुल्तानों ने भारत में न केवल विदेशी शासन-पद्धति अपनाई अपितु अपनी रियाया पर तुर्क नौकरशाही भी लाद दी। संघटन में यह प्रशासन विदेशी था परन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों, रीतियां, परम्पराओं और संवेदनाओं के मामलों में पूर्णतः भारतीय था। यही कारण था कि भारत भूमि में यह गहराई से जड़ें नहीं जमा सका। अलाउद्दीन ने प्रायः पूर्णरूप से गुलाम वंश की राजनीति अपनायी, वह शेरशाह सूरी (1540-45) या अकबर महान (1558-1605) की तरह प्रतिभाशाली न था कि नागरिक प्रशासन को बदल सके। प्रशासन की अपेक्षा व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की तरह अलाउद्दीन खिलजी ने तुर्की कुलीन शासन की कमियों और कमजोरियों को और उन खतरों को भी समझा जिनका सामना करना पड़ता था। इसलिए उच्च स्तर पर उसने परम्परागत तुर्की कुलीनता को नकार दिया तथा मध्य स्तरीय प्रशासनिक शासन को जितना हो सकता था, कम कर दिया। उसने अपनी नौकरशाही को हिन्दुओं, हिन्दू से मुसलमान बने लोगों तथा अधिकार वंचित मुसलमानों के लिए खोल दिया। चूँकि खिलजियों का सम्बन्ध दिल्ली पर शासन करने वाले किसी गुलाम वंशी तुर्की शासकों से न था इसलिए वे अपने को भारतीय मानते थे तथा इसीलिए जब अलाउद्दीन ने सत्ता सँभाली तो उसके एक वर्ष बाद तक बनने वाले मन्त्रिमण्डल में कोई भी तुर्की अमीर न था। सभी कर्मचारी भारतीय समूह से लिये गये थे जो सुविधाभोगी तथा प्रसिद्ध न थे।[100]

अलाउद्दीन आले दर्जे का निरंकुश शासक था। कभी-कभी उसकी निरंकुशता दानव रूप धारण कर लेती थी। उसके अधीन काम करने वाली सरकार में सुल्तान का व्यक्तिगत चरित्र झलकता था। उसने सेना के बल से सत्ता पाई थी और वह उसे सैन्य शक्ति से ही बनाये रख सकता था। उसका शासन पुलिस शासन था जो बर्बरता के इस सिद्धान्त पर आधारित था कि शक्ति ही सर्वोच्च अधिकार है। इसके साथ हिटलर की यह उक्ति बैठती है कि "क्या सही है या गलत इसे युद्ध द्वारा तय किया जा सकता है।" उसके मन्त्री, सलाहकार तथा कानूनी सलाहकार - सभी उसके अधीन थे तथा राजदरबार का कोई भी व्यक्ति अपने अधिकार से नहीं आया था।

शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अलाउद्दीन को कुछ असंतुष्ट अमीरों तथा अपने महत्वाकांक्षी सम्बन्धियों के कुछ विद्रोहों का सामना करना पड़ा। दिल्ली के सुल्तानों में उत्तराधिकार का कोई नियम नहीं था तथा अलाउद्दीन पहला व्यक्ति था जिसके सिंहासन पर न कोई वंशागति थी, न कानूनी और न नैतिक दावा था। यही कारण था कि उसके महत्वाकांक्षी भतीजे सकत खान ने षड्यन्त्र करके, उसे मार गिराया और यह समझकर कि वह मर चुका है शाही सिंहासन पर बैठ गया तो उसे अमीरों से पर्याप्त सम्मान मिला। चूँकि उसने अलाउद्दीन खिलजी का तब सिर नहीं काटा था, जब सुल्तान खून में लथपथ पड़ा था इसलिए उसे बाद में इसकी कीमत प्राण गँवा कर चुकानी पड़ी। इससे सुल्तान का यह स्वप्न भंग हो गया कि वह सुरक्षित है। उसने निष्कर्ष निकाला कि इस प्रकार के विद्रोहों के चार कारण थे[101]। ये थे - राज्य में मामले में सुल्तान की उदासीनता, विशेषकर भेदियों के मामले में, अमीरों के सामाजिक लेन-देन या उनके बीच होने वाली शादियाँ, शराब का उपयोग, अत्यधिक मात्रा में धन। इन कारणों को दूर करने के लिए उसने उचित कदम उठाये।

सर्वप्रथम उसने राज्य के हर मामले में दिन प्रतिदिन रुचि लेना आरम्भ कर दिया तथा धीरे-धीरे पूरे राज्यतन्त्र पर अपनी पकड़ मजबूत कर ली। जब सिंहासन पर बैठा तो वह एक अशिक्षित व्यक्ति था तथा स्वभाव से आक्रामक होने के कारण दरबारी विद्वानों का विश्वास प्राप्त नहीं कर सका। ऐसा कहा जाता है कि उसके शासन के आरम्भ में उलेमाओं तथा दरबारियों ने यह नियम बना लिया था कि सुल्तान के ज्ञान से ज्यादा न बोलें[102]। अलाउद्दीन उन हानियों के प्रति सचेत हो गया जिनसे उसे परेशानी उठानी पड़ी थी इसलिए उसने व्यक्तिगत रूप से पढ़ना आरम्भ किया तथा फारसी का ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव करते हुए भी जब उसने एक बार मन में ठान लिया तो वह सारे भाषण पढ़ने लगा और उस भाषा के श्रेष्ठ लेखकों से परिचित हो गया[103]। विद्वानों से बात करने योग्य उन्नति कर लेने के बाद वह मन्त्रियों से प्रशासनिक समस्याओं पर विस्तृत बहस करता था तथा गलती करने वाले अधिकारियों के साथ कड़ाई से पेश आता था। उसने अपने साम्राज्य में होने वाली हर गतिविधि की सूचना देने वाले भेदियों या गुप्तचरों की अच्छी व्यवस्था की। उसे तीन स्रोतों से सरकार की कार्यशैली तथा जनता की आम दशा का पता चलता था। कार्य करने वाले अधिकारियों से; समाचार वाहकों (बरीदों) और भेदियों (मुन्हीयों) से। बरीदों को जनता तो जानती थी लेकिन मुन्ही पहचान में नहीं आते थे। इनका सम्पर्क सीधे सुल्तान से था तथा सभी उच्च और निम्न श्रेणी के लोग इनसे डरते थे।

वे पूरे साम्राज्य में फैले हुए थे। व्यवस्था इस प्रकार की थी कि अच्छे या बुरे, हर व्यक्ति के कार्य की जानकारी सुल्तान तक पहुँचा दी जाती थी तथा अमीरों और अधिकारियों के घर में भी जो कुछ होता था, सुल्तान को गुप्तचरों द्वारा खबर लग जाती थी[104]। सूचनातन्त्र इतना मजबूत था कि कोई अमीर बड़ी जगहों पर भी तेज आवाज में नहीं बोल सकता था[104]। यदि उन्हें कुछ कहना होता था तो वे संकेतों से कहते थे[105]। सुल्तान के गुप्तचर उच्च पदों, मत्रियों, राजकुमारों, रानियों तथा राजपरिवार के अन्य सदस्यों के बीच भी फैले थे तथा कोई नहीं जानता था कि उनके परिवार में से कौन व्यक्ति सुल्तान का गुप्तचर है। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर उसने गड़बड़ी करने वाले अमीरों और उनके परिवारों का सफाया कर दिया। वह गलती करने वाले अधिकारियों और लोगों को बुला-बुला कर दण्ड दिया करता था।

अलाउद्दीन ने अपनी राजधानी तथा अन्य अधीन क्षेत्रों में शराब तथा जुए पर पूर्ण रोक लगा दी। शराब की दुकानें बन्द कर दी गयीं तथा उनके व्यापारियों और जुआरियों को शहर से बाहर निकाल दिया गया। उन पर लगाये गये कर भी समाप्त कर दिये गये[106]। सुल्तान ने खुद शराब पीनी छोड़ दी तथा अपने भोज के कमरे के सभी चीनी और शीशे के बर्तन तोड़ने के आदेश दिये। इनके टुकड़ों को बदायूँ गेंट पर फेंक दिया गया जिनका एक बड़ा सा ढेर बन गया। सुल्तान के आदेश से राजभवन के तहखाने से शराब के भाण्ड लाकर बदायूँ गेट पर उड़ेल कर खाली कर दिये गये जिससे बरसात के मौसम जैसा कीचड़ उत्पन्न हो गया[107]। भोजन तथा सामाजिक मिलन कार्यक्रमों में शराब के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया। कानून का उल्लंघन करने वालों के लिए कड़े दण्ड की व्यवस्था थी फिर भी शराब की बिक्री चोरी-छिपे चलती रही। अन्ततः सुल्तान को इसके सीमित उपयोग की अनुमति देनी पड़ी।

तीसरे अमीरों को अपने नियन्त्रण में लाने के लिए अलाउद्दीन ने उपाय किया। जैसा कि पहले बताया गया है - परम्परागत तुर्की अमीरों और मामलुक युग का सफाया कर दिया गया तथा कुलीनों का नया वर्ग स्थापित किया गया जिसमें अधिकांश उसी के लोग थे इसलिए सुल्तान को अपने उद्देश्य प्राप्त करने में अधिक परेशानी नहीं हुई। उसने सामाजिक गतिविधियों और सम्बन्धों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये। अमीरों को एक दूसरे के घर जाने, भोज देने या सभाएँ करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सुल्तान की स्वीकृति के बिना वे आपस में शादियाँ नहीं कर सकते थे। बरनी लिखते हैं कि ये आदेश इतनी कड़ाई से लागू किये गये थे कि

"अमीर के घर कोई अजनबी शामिल नहीं हो सकता था। भोज और उत्सव पूरी तरह समाप्त हो गया। गुप्तचरों के डर से अमीर शान्त ही रहते थे, वे किसी को भोज पर आमन्त्रित नहीं करते थे तथा आपस में कम से कम व्यवहार चलाते थे। किसी भी राजद्रोही, विद्रोही या बुरे गुणों वाले व्यक्ति को उनके पास आने की अनुमति नहीं थी। यदि वे सरायों में जाते थे तो वहाँ एक साथ बैठ कर अपनी परेशानियाँ एक दूसरे को नहीं बता सकते थे। उनकी बातें संकेतों से ही होती थीं।"[108]

राजकर नीति और राजस्व सुधार

अलाउद्दीन खिलजी के सलाहकारों के पास एकत्र अकूत सम्पत्ति विद्रोहों का चौथा कारण थी जिसे सुल्तान ने बड़े पैमाने पर सुलझाया। राज्य के भाग्य या दुर्भाग्य का निर्धारण करने में धन के महत्व को वह समझता था[109]। इस परेशानी के स्रोत को समाप्त करने के लिए उसने अमीरों की सम्पत्ति तथा राज्य के धनी व्यक्तियों की सम्पत्ति को हस्तगत करने के लिए शक्तिशाली कदम उठाये। दूसरे शब्दों में, उसने नयी राजकर नीति अपनायी तथा अनेक राजस्व सम्बन्धी सुधार किये। वास्तव में वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने राज्य नीति के रूप में वित्तीय मामलों को नियमित किया। अपनी कलम के आदेश से जमींदारी परम्परा को समाप्त कर दिया तथा तलवार के बल पर जागीरों और रियासतों को जब्त कर लिया, राज्य सेवाओं के बदले जमीन देना बन्द कर दिया तथा दान के रूप में कुछ हजार टंका से अधिक देने पर रोक लगा दी[110]। फिर भी अलाउद्दीन की नीति सरकारी सेवाओं के बदले जमीन देने की परम्परा को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाई। एक सम्भावना यह भी व्यक्त की जाती है कि ये सभी, आदेशों के अनुसार जब्त नहीं किये गये बल्कि उनका प्रबन्धन सरकार ने लिया[111]। जो भी हो, अलाउद्दीन खिलजी ने अपने अधीनस्थों से अतिरिक्त धन प्राप्त करने के लिए एक या कोई दूसरा बहाना नहीं बनाया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अपनी स्थिति मजबूत करने के तुरन्त बाद उसने पूर्व जलाली अमीरों की जमीन जब्त कर ली तथा उन्हें आदर के अयोग्य ठहराया। दो वर्षों बाद यह सब पर लागू हो गया। बरनी के अतिशयोक्तिपूर्ण निरीक्षण[112] इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि अलाउद्दीन ने केन्द्रीय सरकार को मजबूत करने तथा अमीरों की शक्ति को समाप्त करने के लिए कई कदम उठाये। लेकिन राज्य के सम्बन्ध में स्वयं उसके उठाये गये कदम प्रगतिशील थे जिनकी सफलता से एक स्थाई केन्द्रीय सरकार का उद्भव हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने को केन्द्रीय व्यक्तित्व के अनुरूप बनाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया जिसने अपनी

सैन्य शक्ति से और शक्तिशाली चरित्र से इतना बड़ा शक्तिमान राज्य तैयार किया पर खुद को सुल्तान ही रहने दिया। अमीरों तथा राज्य के अन्य धनी लोगों से निपटने के बाद अलाउद्दीन ने अपना ध्यान अपने अधीन हिन्दू जागीरदारों, जिन्हें राय, रावत या ठाकुर कहा जाता था और वंशगत जमींदारां जिन्हें बरनी के अनुसार खुत, मुकद्दम और चौधरी कहा जाता है की ओर ध्यान दिया। दिल्ली के सुल्तान के अधीन कृषि योग्य भूमि का अधिकांश भाग प्राचीन परम्परा के अनुसार हिन्दू काश्तकारों (बरनी के अनुसार बलहारों) के पास था। ऐसा इसलिए भी कि ये गाँव के अगुवा-खुत, मुकद्दम और चौधरी-राजस्व वसूलने तथा अन्य राज्य मामलों में ग्रामीण लोगों के बीच में एक मध्यस्थ का कार्य करते थे[13]। यह ठीक ही कहा गया है - "अलाउद्दीन अपनी शक्ति की सीमाएँ जानता था। वह अमुस्लिम भूमि का मुसलमान शासक था तथा वह जानता था कि वह उन्हीं सिद्धान्तों पर शासन कर सकता है जो हिन्दू समुदाय को स्वीकार्य हों।"[14]

इसलिए सुल्तान हिन्दू वंशगत जमींदारों को उनके जीवन के परम्परागत तरीकों के अनुसार ही कार्य करने दिया।[15]

ये खुत, मुकद्दम और चौधरी काश्तकार होने के नाते और राज्य के बल पर काफी धनी हो गये थे। वे राज्य की माँग के अनुसार किसानों पर अधिक शुल्क (खुती) लगाते थे परन्तु अर्थसचिव के पास कम जमा करते थे। वे सरकारी धन का गबन करते थे, मिट्टी से सब कुछ निचोड़ते थे, विलासी जीवन बिताते थे तथा राजस्व अधिकारियों पर कोई ध्यान नहीं देते थे। इस स्थिति से निबटने के लिए अलाउद्दीन ने एक मजबूत नीति अपनायी। राज्य की माँग तैयार करने के लिए उसने दो आदेश जारी किये। पहला आदेश (जबीता) था भूमिराजस्व निर्धारित करने के लिए जमीन की माप कराना। माप की इकाई बिश्वा रखी गयी। उपज का आधा हिस्सा बिना कमी के राजकोष में जमा कराने के लिए निर्धारित किया गया तथा यह नियम सभी खुतों (जमींदारों) और बलहारों (काश्तकारों) के लिए एकसमान था।

दूसरा कानून था जानवरों पर कर लगाना। चारागाहों के लिए एक निश्चित दर पर कर निर्धारित किया गया तथा इसे हर परिवार को देना था। इस तरह कमजोर पशु का भी शुल्क देने से कोई बच नहीं सकता था। यह कानून उच्च तथा निम्न सभी वर्गों पर समान रूप से लागू हुआ[16]।

अलाउद्दीन पहला मुसलमान शासक था जिसने राज्य की माँग के अनुसार जमीनों की माप कराई जो एक पुरानी भारतीय परम्परा थी। न ही वह अलाउद्दीन खिलजी के स्वभाव के अनुरूप थी। सुल्तान के खुतों के विशेषाधिकार तथा

उनके खुती वसूलने के अधिकार समाप्त कर दिये। उनको भी उसी प्रकार भूमि राजस्व जमा करना था जितना कि अन्य करते थे। इस बिन्दु पर बरनी की टिप्पणी स्पष्ट नहीं है लेकिन ऐसा लगता है कि खुतों को केवल अपने अधीन कृषि की जाने वाली भूमि पर ही कर देना था। यदि यह सच है तो यह कहा जा सकता है कि अलाउद्दीन ने खुतों, मुकद्दमों और चौधरियों के मध्यस्थ पद को समाप्त कर दिया तथा हिन्दुओं की परम्परागत भूमि सम्बन्धी कुलीनता पर तगड़ा प्रहार किया। उसके बाद वे यद्यपि वंशगत पारिवारिक उपाधियाँ धारण करते रहे परन्तु इस बात का भरोसा नहीं है कि वे बिना वसूली शुल्क लिए राजस्व वसूलने के पुराने कार्य को करते रहें। यह निष्कर्ष बरनी द्वारा की गई सार्थक टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है। वे कहते हैं -

> "सबके लिए कर वसूलने का एक ही नियम था तथा लोगों को इतना आज्ञापालक बना दिया गया था कि एक राजस्व अधिकारी बीस खुतों, मुकद्दमों या चौधरियों की गर्दन पकड़कर उन्हें भुगतान के लिए बाध्य कर सकता था।"[118]

अलाउद्दीन खिलजी का विशाल राजस्व प्रतिष्ठान था। यह सम्भावना बनती है कि कुछ पुराने खुतों, मुकद्दमों और चौधरियों ने राजस्व वसूलने के लिए राज्य द्वारा निर्धारित अनुदेशों और वृत्तियों पर अपने को पंजीकृत कर लिया था। अलाउद्दीन ने राजस्व अधिकारियों, वसूलकों, क्लर्कों और अन्य राजस्व अधिकारियों पर कड़ाई से अनुशासन लागू किया तथा रिश्वत लेने और बेईमानी से काम करने वाले अधिकारियों को बरखास्त कर दिया गया[119]। बरनी लिखते हैं -

> "किसी हिन्दू या मुसलमान से एक भी टंका बेईमानी या रिश्वत के रूप में लेने की गुंजाइश नहीं थी। राजस्व वसूलने वाले इतने दबे हुए थे कि पाँच सौ या हजार टंका के लिए भी उन्हें जेल भेजकर वर्षों तक जंजीरों में जकड़ा रहने दिया जाता था और उन पर घूँसों तथा कोड़ों की मार पड़ती थी।"[120]

इतना होते हुए भी बरनी का प्रेक्षण सही था कि -

> "लोग राजस्व अधिकारियों को ज्वर से भी बुरा समझते थे। क्लर्क बनना एक महान अपराध था तथा कोई भी व्यक्ति किसी क्लर्क से अपनी लड़की की शादी नहीं करता था।"[121]

हमें बरनी के उन वाक्यों से सार्थक रूप से नहीं जुड़ना है जिसमें राजकोषीय

तथा राजस्व सुधारों में साम्प्रदायिकता की झलक है। उन्होंने इन कदमों को हिन्दू या मुसलमानों सब पर एक समान लागू किया। यह केवल संयोग था कि इस राजस्व नीति से अधिकांशतः हिन्दू ही प्रभावित हुए।

मूल्य नियन्त्रण और बाजार अधिनियम

अलाउद्दीन की अपना राज्य फैलाने की इच्छा तथा मंगोलों के आक्रमण के भय से दूर करने के लिए एक बड़ी सेना तैयार करने की आवश्यकता पड़ी। इसकी बहुत अधिक आवश्यकता 1303 में उस समय पड़ी जब वह दो विपत्तियों में फँस गया - चित्तौड़ का प्रतिष्ठापूर्ण घेरा और दिल्ली पर मंगोलों का आक्रमण। अलाउद्दीन इस दुहरे संघर्ष में सफल रहा परन्तु उसके बाद उसने एक स्थाई सेना की भर्ती करने का विचार बनाया, जो न केवल तीरंदाजों से पूर्णतः सुसज्जित हो बल्कि तुरन्त कार्यवाही के लिए भी तैयार रहे[122]। उसके सिपाही केवल सामान्य लोग नहीं अपितु सल्तनत की प्रिय सन्तान थे जिनकी वफादारी और प्रभावपूर्ण सेवा पर राजा की सुरक्षा निर्भर थी। वे समान्य लोगों से अधिक खुशहाल जीवन बिताते थे। अलाउद्दीन के सामने यह समस्या थी कि किस तरह से वह उनके जीवन-स्तर पर प्रभाव डाले बिना उनको सीमित वेतन देकर अपनी शक्ति बढ़ावे। उसके सफल सैन्य आक्रमणों से राजधानी और आस पास के शहरों में सोने और चाँदी की अत्यधिक मात्रा पहले ही एकत्र हो गयी थी। इससे कीमतें बढ़ गयीं तथा सैनिकों की संख्या बढ़ जाने से बाजार में पैसे की आवाजाही और कीमतें स्वाभाविक रूप से अधिक हो गयीं। इससे हर वर्ष सैनिकों के वेतन बढ़ाने की भी आवश्यकता पड़ी। यह आशंका व्यक्त की गयी कि यदि सुल्तान हर वर्ष वेतन के आधार पर सेना तैयार करता रहे तो राजकोष, जो कभी भरा था, पाँच या छः वर्षों में खाली हो जायेगा[123]। सुल्तान राज्य की अर्थव्यवस्था को मुद्रास्फीति और कीमतें बढ़ने से बचाने के लिए चिन्तित था। काफी विचार-विमर्श के बाद सैनिकों के रहन-सहन की विभिन्न श्रेणियों के अनुसार प्रतिष्ठित वेतनमान तय किया। एक पैदल सैनिक का वेतन 78 टंका[124] सालाना रखा गया, जबकि एक घुड़सवार जिसे राज्य द्वारा घोड़ा प्रदान किया जाता था उसे दुगुना अर्थात् 156 टंका मिलता था। यदि घुड़सवार खुद का घोड़ा (यक अस्प) रखता था तो उसे 78 टंका सालाना अतिरिक्त मिलता था। इसी तरह दो घोड़े रखने पर उसका कुल वेतन 312 टंका प्रतिवर्ष हो जाता था। सुल्तान इस वेतनान को सुदृढ़ और स्थायी रखना चाहता था। उसके दूरदर्शी सलाहकारों ने यह तर्क किया कि यदि जीवन की आवश्यक चीजें कम दाम पर खरीदी जा सकें तो सुल्तान द्वारा निर्धारित वेतनमान पर एक बड़ी और स्थाई सेना रखी जा सकती है। उन्होंने यह

भी बताया कि रोजमर्रा की आवश्यकताएँ तब तक सस्ती नहीं होंगी जब तक अनाजों के दाम नियमों और चुंगी द्वारा निर्धारित नहीं कर दिये जाते[125]।

इसलिए अलाउद्दीन ने रोजमर्रा के लिए आवश्यक अनेक वस्तुओं की कीमतें स्थिर करने तथा निश्चित दाम पर बिना किसी असुविधा के लोगों को उपलब्ध कराने से सम्बन्धित अनेक आर्थिक नियम लागू किये[126]। सुल्तान ने वस्तुओं की कीमतें मनमाने ढंग से नहीं तय कीं, न ही उनकी कीमतें माँग-पूर्ति या खराब मौसम पर या व्यापारिक समुदाय के तर्ज पर आधारित थीं जो अधिकतम लाभ के लिए कीमतों को चढ़ाते उतारते थे। इसके बजाय उसने ये कीमतें उत्पादन लागत के (बर अवार्द)[127] के प्रगतिशील सिद्धान्त पर तय कीं। प्रथम आठ नियम खाद्यान्नों के बारे में थे। पहले नियम में गेहूँ की कीमत 7.5 जीतल[128] प्रति मन, जौ 4 जीतल जबकि अनाज जैसे दलिया और गुखुद 5 जीतल और मोथ 3 जीतल प्रति मन की दर से निर्धारित की गयी थी।

खालसा गाँवों का भू-राजस्व निर्धारण नियम 3 के अन्तर्गत रखा गया। अनाज राज्य के धान्यागार में रखा जाता था तथा कमी के दिनों में लोगों की आवश्यकतानुसार नियन्त्रित दामों पर बेचा जाता था।

अलाउद्दीन ने उलूग खान के एक बुद्धिमान और विश्वस्त व्यक्ति मलिक कबूल को अन्न बाजार का नियन्त्रक (शहना-इ-मण्डी)[129] नियुक्त किया। वह बाजारों में कई घुड़सवारों तथा पैदल सैनिकों के साथ जाता था। उसके साथ अन्य सहायक एवं गुप्तचर भी होते थे। हर बड़े व्यापार के लिए अलग-अलग बाजार स्थापित थे और हर बाजार एक सहना के अधीन होता था जो मुख्य बाजार नियन्त्रक के अधीन कार्य करता था।

राज्य के सभी अन्नवाहक कारवाँ शहना-इ-मण्डी के अधीन एक स्थान पर निगम (यक वुजुद) में लाये जाते थे। दूर के गाँवों से लाने के लिए व्यापारियों का पंजीकरण किया जाता था तथा उन्हें अनुज्ञा दी जाती थी। प्रान्तीय और स्थानीय राजस्व अधिकारी निश्चित दर पर अनाज प्राप्त करने में उनकी सहायता करते थे[130]। या तो यह अनाज राज्य-अन्नागारों में ले लिया जाता था या व्यापारियों द्वारा खुले रूप में सरकार द्वारा निर्धारित दर पर बेचा जाता था। इसमें व्यापारियों को छूट थी कि वे निर्धारित मूल्य में दुलाई का किराया जोड कर वस्तुएँ बेच सकते थे। ऐसा कहा जाता है कि लाभ की सीमा इतनी कम था कि कुछ कारवाँ सरकारी नियमों का पालन नहीं कर सके। बरनी कहते हैं कि इन काफिलों के सभी मुखियाओं को हथकड़ी लगाकर शहना-इ-मण्डी के सामने लाया गया और तब तक कैद करके रखा गया जब तक वे एक सामान्य क्रियाविधि पर सहमत

न हो गये और एक दूसरे की जमानत नहीं ले ली[131]। अनाज लाने वालों को जमुना के किनारे परिवार सहित रहने के लिए कहा गया ताकि वे सरकार के निरीक्षकत्व में राज्य के विभिन्न भागों से अनाज ला सकें तथा दाम निश्चित मूल्य से अधिक नहीं बढ़ सकें। परिणामतः काफी मात्रा में अनाज बाजार में सामान्य समय में आ जाता था। तब राज्य भण्डारों को खोलने की आवश्यकता ही नहीं थी[132]।

पाँचवां नियम जमाखोरी (इहतिकर) यानी अनाजों का खरीदना तथा लाभ की दृष्टि से भण्डारण करने के विरुद्ध सस्ता बनाये रखने के बारे में था। यह नियम इतनी सख्ती से लागू किया गया था कि कोई भी अन्न व्यापारी, किसान या अन्य एक या आधा मन भी अनाज न तो रख सकता था और न ही उसे निश्चित मूल्य से अधिक एक दैंग या दीरम में बेच सकता था। जमाखोरी का पकड़ा गया अनाज राज्य के अन्नागार में लाया जाता था और जमाखोर पर अर्थदण्ड लगाया जाता था[133]।

सुल्तान को बाजार दर तथा वस्तुओं के आदान-प्रदान के बारे में पूरी सूचना तीन स्रोतों से मिलती थी - बाजार नियन्त्रकों से बरीदों से, और मुंशियों से[134]। यदि सूचनाओं में कोई भिन्नता होती थी तो गलती करने वालो को सुल्तान दण्डित करता था। बरनी के साक्ष्य के अनुसार कीमतों की ये दरें तब तक बनी रहीं जब तक अलाउद्दीन जीवित रहा। भले ही वर्षा कम हो या अधिक हो, बाजारों में मूल्यों की स्थिरता उस समय के लिए आश्चर्य है[135]। वे एक घटना का उल्लेख करते हैं - एक बार सूखे के समय एक बाजार के कनिष्ठ शहाना (मलिक कबूल नहीं) ने सूचना दी कि अनाजों की कीमत आधा जीतल बढ़ गयी है तो उसे बीस डंडों की मार पड़ी[136]। फरिश्ता लिखते हैं -

> "उस समय में कीमतें स्थिर थीं परन्तु एक बार अकाल पड़ने पर इसमें बदलाव आया। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि इस तरह की असामान्य स्थिति लम्बे समय तक बनी रही। इस तरह की प्रयोजना न कभी लागू थी और न ही लागू करने की कोशिश की गयी परन्तु यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि ये आदेश इस राजा के शासन में चलते रहे।"[137]

आठवाँ कानून सूखे या अकाल के समय अनाजों की राशनिंग से संबंधित था। हर मुहल्ले के लिए आवश्यक हर रोज का पर्याप्त अनाज स्थानीय अनाज विक्रेताओं (बक्कालों) के पास राजकीय भण्डार से भेज दिया जाता था तथा एक सामान्य खरीददार को आधा मन अनाज खरीदने की आज्ञा थी। दिल्ली से सटे गाँवों के लोग भी दिल्ली में निश्चित दरों पर अनाज खरीदने के लिए

एकत्र होते थे। कमी के समय यदि कोई गरीब व्यक्ति बाजार में अपनी आवश्यकतानुसार सामान नहीं पाता था तो उस क्षेत्र के प्रभारी को सुल्तान के सामने तलब किया जाता था[138]। यद्यपि अलाउद्दीन के शासन काल में सूखा भी पड़ा और अनाज की कमी भी हुई किन्तु किसी बड़े पैमाने पर अकाल और भूख से मौत नहीं सुनाई पड़ीं। यह सब कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से ही सम्भव हो सका। बरनी अपनी टिप्पणी से इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं -

"वास्तव में यह उस काल के लिए आश्चर्य की बात थी और कोई भी दूसरा राजा इसे प्रभावित करने में सक्षम न था[139]।

सुल्तान ने द्वितीय प्रकार के नियम कपड़े और सब्जियों की कीमतें कम करने के लिए लागू किये[140]। दिल्ली के निकट बदायूँ गेट के पास लम्बे समय से खाली पड़े घास के मैदान को इन वस्तुओं के बाजार के रूप में बदल दिया गया जिसे सराय अदल कहते थे। इस बाजार का एक हिस्सा कपड़े और वस्त्रों के लिए आरक्षित था। यह कपड़ा बाजार था जिसका प्रभारी (रईस परवाना) था। राजधानी में रहने वाले सभी भारतीय और विदेशी व्यापारियों को बाजार में कपड़ा लाना पड़ता था तथा सरकार द्वारा निश्चित दर पर बेचना पड़ता था। अनाज व्यापरियों की तरह कपड़ा व्यापारियों का भी एक संगठन बना, उनके नाम रईस परवाना के कार्यालय में पंजीकृत किये गये थे तथा उससे यह शपथ पत्र लिखवाया गया कि जहाँ कहीं भी वे पायेंगे निश्चित मात्रा में कपड़े लेकर राजधानी के बाजार में बेचने के लिए लायेंगे। मोटे कपड़े और अनाज उत्पादन लागत सिद्धान्त[141] के आधार पर सामान्य दर से बेचे जाते थे किन्तु कुलीन परिवारों के लिए अच्छे किस्म के सूती, रेशमी कपड़े या अन्य विलासी वस्तुओं पर यह नियम लागू नहीं था। इस प्रकार की वस्तुओं की राजधानी में बड़ी माँग थी तथा इनकी पूर्ति में लगे मजदूर दूर-दूर के केन्द्रों कश्मीर, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र तथा बंगाल में थे जिनको भारी खर्च करना पड़ता था। इसलिए ये वस्तुएँ कुलीन परिवारों के लाभ के लिए रियायती मूल्य पर बिकती थीं[142]। कपड़े के व्यापार में प्रवीण मुल्तानी व्यापारी काफ़ी आगे थे, एक अवसर पर उन्होंने देश के विभिन्न हिस्सों से कीमती कपड़े मँगाने के लिए 20 लाख टांका कर्ज लिया तथा दिल्ली में लाकर उन्हें लागत मूल्य से भी कम पर बेचा। ये व्यापारी वास्तव में सरकार के लिए एक कमीशन एजेंण्ट के रूप में थे तथा इनके आदान-प्रदान के रूप में होने वाली हानियों का भार राजकोष उठाता था। इस तरह की बात होने पर इन वस्तुओं की खरीद पर नियन्त्रण लगा दिया गया। रईस परवाना द्वारा कुलीन परिवारों को इस विषय में अनुज्ञा पत्र जारी किए गये जिसके अनुसार अपने

पदानुरूप वस्तुओं की निश्चित मात्रा ही खरीद सकते थे। फरिश्ता कहता है कि राजधानी से अच्छे किस्म के कपड़े और रेशम के निर्यात पर रोक लगा दी गयी, जिससे कि धूर्त व्यापारी दिल्ली से कम कीमत पर खरीदकर अन्य स्थानों पर अधिक दर से न बेच सकें। फरिश्ता यह भी लिखता है कि लोग घर पर रेशम या अन्य अच्छे कपड़े बिना सुल्तान की अनुमति के नहीं पहन सकते थे[43]।

तीसरे प्रकार के नियम पशुधन - घोड़े, जानवर और गुलामों के खरीदने और बेचने के बारे में थे। सेना के लिए संस्तुत उम्दा किस्म के घोड़ों की तीन श्रेणियाँ थीं — प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय जिनकी कीमतें क्रमशः 100-120, 80-90 और 65-70 टंका निश्चित थीं। एक सामान्य टट्टू 12-20 टंके में मिल जाता था। सरकार देखती थी जो व्यापारी अच्छे किस्म के घोड़े लाते हैं, वे स्थानीय थोक विक्रेताओं को न बेच सकें जिससे थोक विक्रेता किसी उपभोक्ता को या मध्यस्थ (दलाल) के माध्यम से उच्च कीमत पर न बेच सके। सरकार ने स्थानीय विक्रेताओं और धनी व्यक्तियों को अच्छे किस्म के घोड़े खरीदने के लिए अनुज्ञा पत्र निर्गत किए। यह सारा लेन-देन इसके लिए बनाये गये विशेष स्थान पर होता था और सुल्तान स्वयं निश्चित समय पर पुनः निरीक्षण करता था। सेना में उपयोग होने के कारण घोड़े मनुष्यों से अधिक मूल्यवान थे। इसीलिए सरकार द्वारा कड़े उपाय करने पर भी घोड़ों की खरीद और बिक्री में बहुत धोखाधड़ी की जाती थी। फरिश्ता लिखते हैं कि सरकार के नियमों का उल्लंघन करने वाले बहुत से घोड़े के विक्रेताओं को या तो मार डाला गया या शहर से बाहर निकाल दिया गया[44]।

भैंसें, गायें, साँड, ऊँट, बकरियाँ, भेड़ें, गधे जैसे सभी पालतू जानवर सरकार द्वारा निर्धारित की गयी कीमतों पर ही खरीदे या बेचे जा सकते थे। दिल्ली के मामलूक सुल्तान युद्ध के कैदियों को दास बना लिया करते थे। अलाउद्दीन के शासन में साम्राज्य विस्तार हेतु अनेक लड़ाइयाँ हुईं और यहाँ मंगोलों के आक्रमण हुए इसलिए पुरुष और स्त्री गुलामों की बहुत बड़ी संख्या थी। इन्हें बहुत कम मूल्य पर जानवरों की तरह खरीदा और बेचा जाता था। बरनी के अनुसार एक गुलाम लड़की 5 से 12 टंके में और एक रखैल 20 से 40 टंके में बेची जाती थी। एक सुन्दर युवा लड़का 20 से 30 टंके में जबकि एक गुलाम मजदूर 10 से 15 टंके में बिकता था। उपभोक्ता वस्तुएँ और घरेलू श्रम इतना सस्ता था कि एक संयत व्यक्ति या अलाउद्दीन की सेना का घुड़सवार 1 से 4 वैधानिक पत्नियां, अनेक रखैलों, एक दर्जन गुलाम लड़कियों और गुलाम मजदूरों के साथ खुशनुमा और आरामदायक जिन्दगी बिता सकता था।

परम्परागत प्रशासनिक व्यवस्था के अनुसार साम्राज्य के सभी बाजार दीवान-ए-रियासत—वाणिज्य मंत्रालय, नजीर कार्यालय—बाट और माप अधीक्षक के नियन्त्रण में होते थे। अलाउद्दीन ने इस मंत्रालय को मलिक याकूब को सौंपा, जो पहले नजीर था। वह बहुत ही ईमानदार और सत्यनिष्ठ व्यक्ति था, परन्तु अपनी शक्ति और रूखेपन के लिए कुख्यात था। विभिन्न बाजारों के शहना जिसमें मलिक कबूल भी शामिल था, अन्न बाजार का नियन्त्रक और रईस परवाना, राजधानी के कपड़ा बाजार का अधीक्षक ये सभी उसके अधीन थे। इस प्रकार अन्ततः दीवान-ए-रियासत पूरे साम्राज्य में आर्थिक नियमों को लागू करवाने के लिए जिम्मेदार था[145]। उसके उच्चपद में और श्रेष्ठता तथा अधिकार बढ़ाने की दृष्टि से उसे मुहतासिब (सामान्य नैतिकता का नियन्त्रक) बना दिया गया। याकूब ने इन नियमों को क्रूरतापूर्वक लागू किया तथा उन लोगों के मन मे भय उत्पन्न कर दिया जो इन नियमों का पालन नहीं करते थे। इन सभी शहनाओं को बड़ी वस्तुओं की मूल्य सूची दी जाती थी, ऐसा लगता है कि सूची में अवर्णित वस्तुओं के दाम अपने क्षेत्र में उसी तर्क पर निश्चित करने के लिए वे स्वतन्त्र थे। वे बाजार मे घोड़ों की एक टुकड़ी के साथ घूमते थे तथा धोखाधड़ी करने वाले दुकानदारों को सार्वजनिक रूप से कोड़ों से पीटते थे। मलिक याकूब ने राजधानी के बाजारों में दहशत फैला दी थी जहाँ वह बार बार उल्लंघन के लिए खरीददार या विक्रेता, भारतीय या विदेशी काफिलों के सरगना, किसी को भी क्षमा नहीं करता था। गलती करने वालों को बीच बाजार में पैरों, लाठियों और बेंतों से पीटा जाता था। सुल्तान खुद ही अपने गुलाम लड़कों तथा दासियों के द्वारा यह जाँच करता था कि दुकानदार गरीबों को, बच्चों को कम तौलकर धोखा न दें। जो ऐसा करते थे उनके शरीर से उतना मांस काट लिया जाता था। सुल्तान के आदेश पर इस बर्बरतापूर्वक दिये जाने वाले दण्ड के बारे में बरनी लिखते हैं -

> "इस प्रकार के दण्डों की निश्चितता से व्यापारी ईमानदार बने रहे तथा उन्होंने किसी को कम नहीं तौला और न ही कभी खरीददार को अतिरिक्त तौलकर दिया।"[146]

इसे विधि की विडम्बना ही कहेंगे कि अलाउद्दीन खिलजी द्वारा शक्ति के बल पर निर्मित राज्य नियन्त्रित अर्थव्यवस्था का शानदार महल उसकी मृत्यु के बाद ताश के पत्तों से बने घर की तरह भरभराकर गिर पड़ा, सारे आर्थिक नियम सुल्तान की मृत्यु के साथ मिट गये जिससे देश में उत्पात तथा आर्थिक अशान्ति फैल गयी।

अलाउद्दीन का मूल्यांकन

अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली के सुल्तानों में सबसे महान था, शेरशाह सूरी और अकबर के अलावा कोई भी अन्य मुसलमान शासक उसकी तुलना नहीं कर सकता था। एक मनुष्य के रूप में उसकी अनेक इच्छायें अपूर्ण रह गयीं, यद्यपि वह जन्मजात योद्धा, तेज-तर्रार सेनानायक, सफल प्रशासक और दूरदर्शी कुशल राजनीतिज्ञ थ। साहसी और निडर महत्वाकांक्षी अलाउद्दीन ने दिल्ली राज्य को अपने चरित्र तथा सैन्य बल से एक शक्तिशाली साम्राज्य बना दिया। दक्षिण में मुस्लिम हथियारों की घुसपैठ और इस्लाम मत के रोपण का श्रेय उसे ही है। उसने सल्तनत तथा भारत के लोगों की मंगोलों से रक्षा की। उसकी उत्तर पश्चिमी सीमा की नीति भी सफल रही जिसने मध्य युग और आधुनिक युग के अनेक शासकों को भयभीत कर दिया था। उसने विदेशी आक्रमणकारियों के मन में भय उत्पन्न कर दिया था। अलाउद्दीन उच्च महत्वाकांक्षी एवं आक्रामकता से युक्त था। वह अपने संकल्प में चट्टान की तरह अडिग था। वह अत्यधिक संवेदनशील तथा कार्य करने में तेज एवं सतर्क था।

यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी अर्धशिक्षित था तथा शासन के बारे मे कम जानकारी रखता था फिर भी उन प्रशासनिक समस्याओं को कुशलतापूर्वक सँभाला। यद्यपि कीमतों का निर्धारण, बाजार का नियन्त्रण, उपभोक्ता वस्तुओं की राशनिंग संबंधी सुधार वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थे परन्तु अपने समय से बहुत ही आगे थे।

अलांउद्दीन मानव स्वभाव का एक अच्छा पारखी था। वह उचित कार्य हेतु उचित व्यक्ति की पहचान करना तथा उससे अधिक कार्य लेना जानता था। उसने अपने साम्राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था कायम की तथा अपनी प्रजा को आवश्यक सुरक्षा प्रदान की। उसने सेवाओं को नियन्त्रित किया, गैर अनुशासनात्मक बुराइयों, भ्रष्टाचार और घूसखोरी को समाप्त किया परन्तु ईमानदार और कार्यक्षम अधिकारियों पर भी शाही सूचना देने वाले और गुप्तचर निगाह रखते थे।

अलाउद्दीन ने राजनीति को धर्म निरपेक्ष बनाया तथा अपने निरंकुश शासन को मजबूत करने के लिए अमीरों और जमींदारी कुलीनता की शक्ति को कम कर दिया। उसने उच्च वर्गों को दबाया परन्तु सामान्य आदमी को सुख दिया। वस्तुओं की कीमतें काफी कम थीं, भोजन और जीवन की अन्य आवश्यकताएँ आसानी से और अधिक मात्रा में उपलब्ध थीं। जमाखोरी, काला बाजारी, व्यापारिक समुदायों द्वारा धोखाधड़ी, तथा दलालों द्वारा शोषण आदि सुनाई नहीं पड़ते थे। सड़कें यात्रा के लिए सुरक्षित थीं तथा सल्तनत के हर कोने में कानून का शासन

दिखाई देता था। अलाउद्दीन की सम्पत्ति और सैन्य शक्ति की बराबरी मध्ययुगीन भारत का कोई राजा नहीं कर सका, उसके शासन की तरह सल्तनत फिर कभी उन्नत नहीं हो सकी।

भूमि सुधार के कुछ मामलों, सैन्य संगठन तथा सामाजिक आर्थिक नीतियों के मामले में अलाउद्दीन शेरशाह सूरी की नीतियों को पहले ही जान चुका था। उसके प्रशासनिक तन्त्र में प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष राज्य के बीज थे जिसे यदि दो या तीन पीढ़ियों तक और स्थिरता तथा शान्ति मिल जाती तो इससे एक शान्ति एवं समृद्धि के युग की स्थापना होती और कम से कम दो शताब्दियों तक चलती।

लेकिन ऐसा नहीं होना था। प्रशासन के क्षेत्र में अलाउद्दीन प्रवर्तक नहीं था। वह प्रशासनिक मामलों में शासन को चुस्त बनाने हेतु व्यक्तिगत रुचि लेता था किन्तु वह शेरशाह सूरी या अकबर की तरह बुद्धिमान नहीं था जिन्होंने प्रशासन में संरचनात्मक परिवर्तन लाकर राज्य को और अधिक स्थाई और कार्यक्षम बनाया। उसका शासन निरंकुश था जिसकी सभी शक्तियों तथा नीतियों की डोर उसके अपने हाथों में केन्द्रित थी, उसका सफलतापूर्ण संचालन सुल्तान की शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर करता था। वह 1312 ई0 में अपनी शक्ति और शान के शीर्ष पर था, वह प्रशासनिक मामलों की पतवार था उसने अपना दिमागी सन्तुलन ठीक रखा तथा शासन तन्त्र को अपनी पकड़ में रखा। उसके बाद शरीर और बुद्धि की तीव्रता कम होने लगी। उसके लिए सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा-कि उसने अपने बच्चों को प्रशिक्षित नहीं किया जिससे उसकी मृत्यु के बाद कोई भी इतना योग्य नहीं हुआ जो इतने बड़े साम्राज्य रूपी जहाज को रास्ता दिखा सकता या इतने शक्तिशाली राज्य को चलाने का उत्तरदायित्व सँभालता। उम्र बढ़ने के साथ वह कठोर और चिड़चिड़ा होता गया। युवावस्था में धूर्त लोमड़ी की तरह अलाउद्दीन अपने ही सन्देही और शंकायुक्त स्वभाव का रोगी था, वह अपने पुराने वफादार अधिकारियों के साथ, यहाँ तक कि मलिका-ए-जहाँ तथा बच्चों के साथ उचित व्यवहार नहीं करता था। इसलिए वह राज्य के लिए उनकी व्यक्तिगत या सामूहिक सेवाओं का उपयोग नहीं कर सका। उसके पास योग्य प्रशासकों, सैन्य अधिकारियों और जनता थी, परन्तु जरूरत के समय भी सुल्तान उनसे सहायता नहीं ले सका। इसके बजाय अपने मन की चंचलता तथा अपने दोषपूर्ण न्याय पर विश्वास करता था। उसने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया बल्कि उनके साथ बुरा बर्ताव किया तथा उनसे अलग रहता आया जिससे कोई भी सुल्तान को उचित सलाह देने की हिम्मत नहीं करता था। प्रकृति ने पहले

से ही यह तय कर रखा है कि इतना बेवफा तथा स्वार्थी आदमी स्वयं नीचे गिर जाता है। साथ ही अपने परिवार और राज्य के अपने लोगों से ही धोखा खाता है। मलिक काफूर ही इस तरह के कार्यों के लिए जिम्मेदार था। अलाउद्दीन का मलिक काफूर के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क तथा मुख्य रानी और बच्चों के साथ बुरा व्यवहार यह सब कुछ एक महान सत्ता के लिए उचित नहीं था, इसके लिए सुल्तान को भारी कीमत चुकानी पड़ी। जब काफूर सिंहनदेव के विद्रोह को दबाने गया उस समय सुल्तान गम्भीर रूप से बीमार पड़ा। उसके चिड़चिड़ेपन के कारण मुख्य रानी तथा युवराज खिज्र खाँ ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया शायद वे उस पर लगातार ध्यान न दे सके। देवगिरी और गुजरात में मलिक काफूर को सुल्तान का दुखभरा बुलावा मिला। अल्पखान राजधानी की ओर गया जबकि काफूर संकोच करके कुछ समय बाद गया। इस समय तक सुल्तान राज्य के मामलों में हिस्सेदारी लेने के लिए पूर्णतया अक्षम हो चुका था। उसने सरकार की बागडोर मलिक काफूर को प्रधानमन्त्री (वजीर) के रूप में तथा उपसुल्तान के रूप में दी। इससे मलिक काफूर को राजसी पंक्ति को जड़ से उखाड़ने और राजा बनाने वाले की भूमिका निभाने का मौका मिला। सुल्तान एक अन्धे की तरह उसके सभी राजनीतिक और क्रूर कदमों का समर्थन करता रहा[47]। राजनीतिक काफूर ने मलिका-ए-जहाँ के बारे में सुल्तान के कान भर दिये। उसने यह इल्जाम लगा दिया कि मुख्य रानी और उसके सहयोगियों, साथ में अल्प खान, ने सुल्तान को मार डालने का षड्यन्त्र रचा है। अपनी इच्छा के विरुद्ध सुल्तान ने आदेश किया जिससे उसके दोनों पुत्र खिज्र खाँ और सादी खाँ ग्वालियर के किले में तथा मलिका-ए-जहाँ दिल्ली के किले में कैद कर लिए गये। अल्पखान और उसके भाई निजामुद्दीन को काफूर ने प्रताड़ना देकर मार डाला। इस प्रकार की दुखद घटनाओं से अमीरों में घृणा उत्पन्न हो गयी तथा लोगों में असंतोष फैल गया। चित्तौड़ के राजपूतों ने शाही सेना को भगा दिया तथा स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। अल्पखान की हत्या से गुजरात में विद्रोह खड़ा हो गया। वहाँ पर शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए पहुँची शाही सेना को विद्रोहियों ने करारी मात दी। देवगिरी की गद्दी से हटाये गये राजा रामचन्द्र देव के दामाद हरपाल देव ने दक्षिण के लोगों को खिलजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए प्रेरित किया तथा बड़ी संख्या में दक्षिण में तैनात रक्षक सेनाओं को भगा दिया। जब अलाउद्दीन ने यह सब सुना तो लगभग पागल और क्रुद्ध हो उठा तथा गुस्से से उसने अपना ही मांस काट लिया। उसके दुख से उसकी बीमारी और बढ़ गयी 'जो दवा की शक्ति को निष्प्रभावी करती जान पड़ी'।[48] उसकी

मृत्यु जनवरी 1316 में कभी हो गयी। अपनी मृत्यु से एक दिन पहले वह शारीरिक रूप से बेहोश पड़ा था। उसकी लाल जीभ सूजे गालों के बीच चिपकी थी। ऐसा लगता था कि उसके कृतघ्न गुलाम मलिक काफूर ने उसे मन्दविष दे दिया होगा।

खिलजी वंश का अन्त

मलिक काफूर सिंहासन को हड़पना चाहता था। उसने सुल्तान के लगभग आधे दर्जन वयस्क बच्चों के दावों को अनदेखा करके सुल्तान की मराठा पत्नी (देवगिरी के राजा राम चन्द देव की पुत्री) से उत्पन्न छः वर्षीय पुत्र उमर को गद्दी पर बैठाया और स्वयं उसका प्रतिशासक (रिजेन्ट) या एक तरह से शासक बन बैठा। इस घाव में उसने नमक भी छिड़का क्योंकि उसने शिशु सुल्तान की माँ से विवाह कर लिया जबकि सभी जानते थे कि वह एक हिजड़ा है। वह बड़ी उद्दण्डता से और स्वर्गीय अलाउद्दीन से भी अत्यधिक निरंकुशता से शाही शक्तियों का उपयोग करने लगा। उसने खिज्र खाँ और सादी खाँ को अन्धा बनाकर उनकी माँ मलिका-ए-जहाँ के साथ ग्वालियर के किले में रखा तथा अलाउद्दीन के दूसरे युवा पुत्र मुबारक खान को सिरी (दिल्ली) के किले में रखा। सुल्तान की सभी पत्नियों और बच्चों को सभी अमीरों या दासों को, जो गद्दी पर दावा कर सकते थे, हटा देने का लालच काफूर के मन में आ गया कि जिससे वह अपने लोगों को उच्चपदों पर रख सकें[149]। एक योग्य और अनुभवी प्रशासक होते हुए भी उसने अपने क्रूर तथा बुरे व्यवहार से उनको स्वत्वाधिकार से वंचित कर दिया। उसने स्वर्गीय सुल्तान के कुछ दास रक्षकों (पैकों) को मुबारक खान की आँखें निकालने के लिए भेजा। लेकिन जेल में मुबारक खान द्वारा दया की भीख मांगने पर पिघल गये। इसलिए उसे अन्धा करने के बजाय रात में काफूर के महल में पहुँच कर उसे ही मार डाला। यह घटना अलाउद्दीन के मरने के 35 दिन बाद हुई।[150]

मलिक काफूर की मृत्यु से अलाई अमीरों और दिल्ली के नागरिकों ने चैन की साँस ली। मुबारक खान को स्वतन्त्र कर दिया गया तथा उससे बालक सुल्तान शहाबुद्दीन उमर के प्रतिशासक के रूप में पद ग्रहण करने को कहा गया। मुबारक खान ने सावधानी से कार्य करते हुए अलाई अमीरों का विश्वास जीत लिया। इस प्रकार लगभग दो माह तक प्रतिशासक रहने के बाद वह सुल्तान के रूप में कुतबुद्दीन मुबारक शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। उस समय वह 17 या 18 वर्ष का था। गद्दी पर बैठने का उत्सव बड़े धूमधाम से मनाया गया तथा लोगों में खुशी की लहर दौड़ गयी। शहाबुद्दीन को बन्दी बनाकर ग्वालियर

में रखा गया।

मुबारक शाह ने करीब चार वर्षों (1317-20) तक शासन किया। उसके प्रथम दो वर्ष लोमहर्षक रहे। अलाउद्दीन के अनेक नियमों में ढील दी गयी तथा आर्थिक सुधारों को हटा दिया गया। जागीर व्यवस्था पुनर्जीवित हो गयी। साम्राज्य के पुराने कुलीन व्यक्तियां ने थोड़े ही समय के लिए युवा सुल्तान को कानून और व्यवस्था स्थापित करने में सहायता की। 1346 में गुजरात को विद्रोहियों से छुड़ा लिया गया। हरपाल देव हार गया तथा 1318 में बन्दी बनाकर मार डाला गया। देवगिरी का राज्य पुनः सल्तनत में शामिल हो गया और वहाँ एक मुसलमान गवर्नर नियुक्त किया गया।

दुर्भाग्य से परिस्थितियाँ विषम होती गयीं। प्रारम्भ में मुबारक शाह द्वारा लोगों को सहानुभूति हेतु अपनाई गयी उदार नीति आगे चल कर राज्य प्रशासन पर बुरा प्रभाव डालने लगी। वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये और व्यापारिक समुदाय ने समूची राजकीय अर्थव्यवस्था को अव्यवस्थित कर दिया, नौकरशाही भ्रष्ट और गैर जिम्मेदार हो गयी, अमीरों में असंतोष के तथा स्वामिभक्ति न रहने के संकेत दिखने लगे। मुबारक शाह एक अयोग्य और कमजोर शासक सिद्ध हुआ। भ्रष्ट चरित्र वाले लोगों का समूह अपनी आधारभूत इच्छाओं की पूर्ति हेतु उसके आसपास एकत्र होने लगा। उन्होंने धीरे-धीरे युवा सुल्तान को विलासी जीवन की ओर धकेल दिया। उनमें से कुछ की ऊँचे पदों पर प्रोन्नति भी हुई परन्तु सुल्तान की शक्ति बढ़ने के बजाय उसे पुराने अमीरों की नाराजगी ही हाथ लगी। सुल्तान एक गुलाम लड़के खुसरो खान - एक परिवर्तित हिन्दू का विशेष पक्ष लेता था तथा उसके साथ उसने व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ रखे थे।[51] उसे सुल्तान ने वजीर, मलिक नायब और सेना का मुख्य सेनापति तक बना दिया। सुल्तान ने साम्राज्य का भार उसके ऊपर छोड़ दिया तथा स्वयं शराब और विलास में लिप्त हो गया।[52] खुसरो खान भी लम्पटता में फँस गया। मुबारक शाह ने सुल्तान की सारी शान और प्रतिष्ठा को नष्ट कर दिया, वह नाचती हुई लड़कियों के साथ तथा अशिष्ट गुलाम लड़कों के साथ दरबार में जाता था जो दरबारियों को लज्जित करते थे। इससे शासन की भलाई चाहने वालों को धक्का लगा तथा अमीरों में असंतोष फैल गया। अमीरों द्वारा किये गये दो विद्रोह तो दबा दिये गये परन्तु सुल्तान को मारने का षड्यन्त्र पता चलने पर वह अपने ही लोगों के प्रति हिंसात्मक रवैया अपनाने लगा। षडयन्त्रकारियों, उनके सहयोगी और उनके बच्चों, सबको मार डाला गया। खिज्र खान, शादी खान, शहाबुद्दीन, उमर खान और राजसी खून वाले सभी राजकुमारों को निर्दयता से मार डाला गया। मुबारक खान ने अपने

श्वसुर जफरखान को भी नहीं बख्शा। अपने मूर्खता तथा निरंकुशतापूर्ण कार्य से सुल्तान अपने ही शुभचिन्तकों से वंचित हो गया। उसने अमीरों का समर्थन और विश्वास खो दिया तथा पूर्णत: मलिक नायब खुसरो खान की दया पर आश्रित रहा। खुसरो ने अपने मालिक को 20 अप्रैल, 1320 को मार डाला तथा इस प्रकार अलाउद्दीन खिलजी के शाही वंश का दुखद अन्त हुआ। वह नासिरुद्दीन खुसरो शाह के नाम से सिंहासन पर बैठा।

सिंहासन के दावे पर अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए खुसरो शाह ने अलाउद्दीन के सभी पुरुष सदस्यों को मार डाला। उसने अमीरों में भय का वातावरण उत्पन्न कर दिया परन्तु प्रान्तीय गवर्नरों से उसे प्रतिघात ही मिला। दीवालपुर का गवर्नर गाजी मलिक ने, बाद में गयासुद्दीन तुगलक, तुगलक वंश का संस्थापक उसे सुल्तान मानने से इन्कार कर दिया तथा उसने उससे प्रभावित सभी अमीरों को पुन: एकत्र किया। अलाई परिवार के प्रति किये गये बुरे बर्ताव का बदला लेने के लिए उसने दिल्ली के लिए कूच किया। खुसरो शाह हार गया और 6 सितम्बर 1320 को मार डाला गया। उसका शासन साढ़े चार माह चला। इस प्रकार अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद पाँच साल में ही उसके सभी उत्तराधिकारी, सम्बन्धी और सहयोगी समाप्त हो गये।

संदर्भ

1. बरनी लिखते हैं कि इस राजवंश का संस्थापक जलालुद्दीन खलजी 'तुर्कों से भिन्न जाति का था जिससे कि उसे उन पर विश्वास नहीं था और न ही तुर्क उसे अपनी मित्र-मंडली के एक सदस्य के रूप में अपनाते'। 'तारीख ए फिरोजशाही'; ई & डी, तृतीय, भारतीय पुनर्मुद्रण (किताब महल), पृ०134.
2. बरनी लिखते हैं कि :
   उसके शासन के प्रथम वर्ष के दौरान सभी श्रेणियों और वर्गों के नागरिक, सैनिक और व्यापारी किलुगढ़ी गए, जहाँ सुल्तान खुला दरबार लगाता था। खलजियों को तुर्कों के सिंहासन पर विराजमान देखकर उन्हें अत्यंत आश्चर्य और प्रसन्नता हुई, और वे यह देखकर चकित थे कि जैसे राज-सिंहासन एक से दूसरे के पास चला गया। - 'तारीख ए फिरोज शाही' पृ० 136.
3. बरनी, 'तारीख ए फिरोजशाही', पृ० 134.
4. पूर्वोक्त कृति में, पृ० 134-35.
5. किलुगढ़ी, किलुखरी अथवा किलोखरी
6. बरनी के शब्दों में,
   कुछ समय व्यतीत हो गया और फिर भी सुल्तान उस नगर (दिल्ली) में नहीं गया, किन्तु उसके शासन की सत्ता में वृद्धि हुई। उसके चरित्र, उसके न्याय-प्रेम, उसकी उदारता और निष्ठा के प्रकर्ष ने लोगों (कुलीनों) की विरुचि को धीरे-धीरे